❀ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ❀



वर्ष ५०] ❀ ❀ ❀ [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,७६,५००)

विषय-सूची

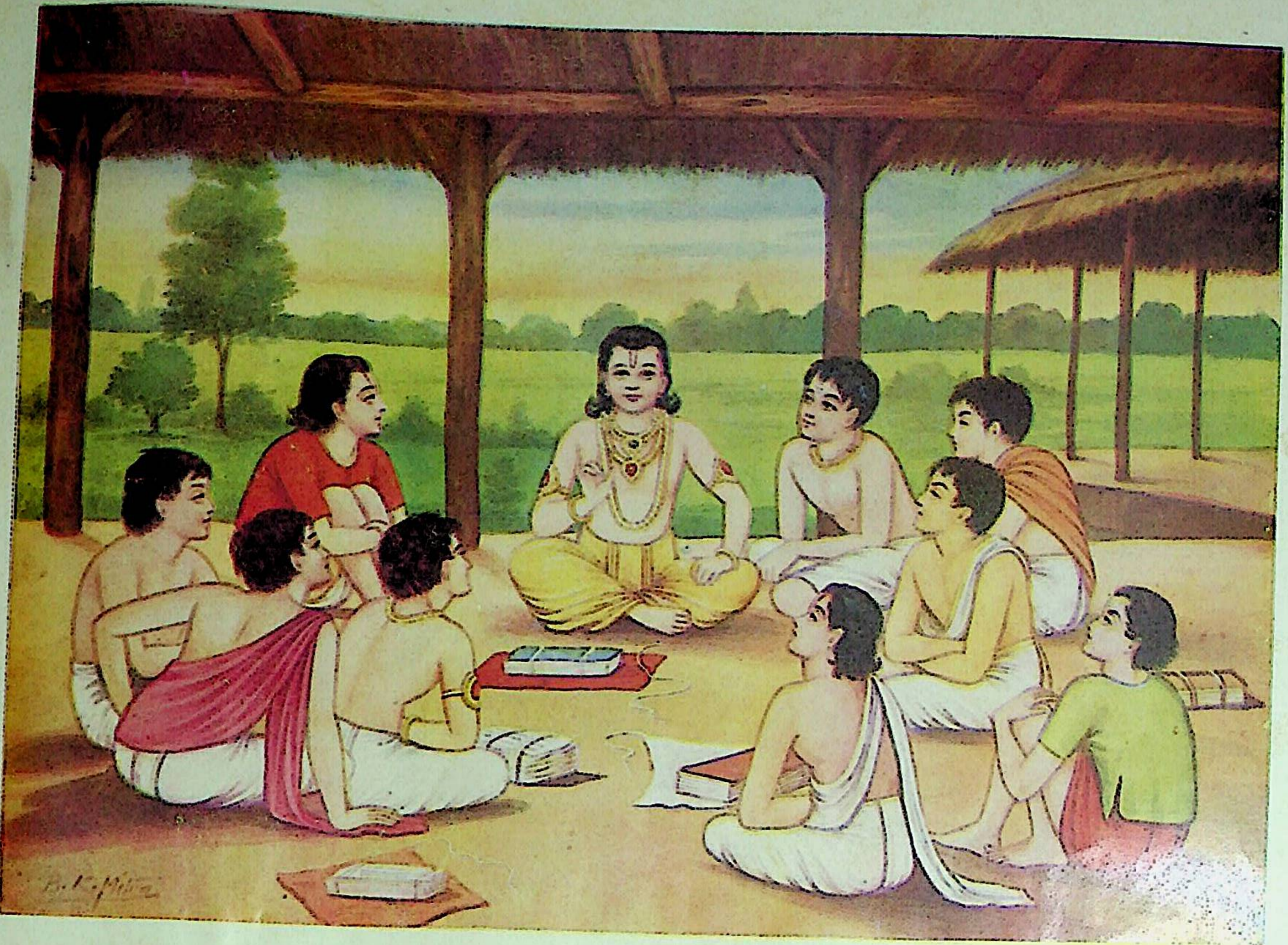
कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०२, अगस्त १९७६

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
मुद्रक-प्रकाशक एवं स्थानापन्न सम्पादक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

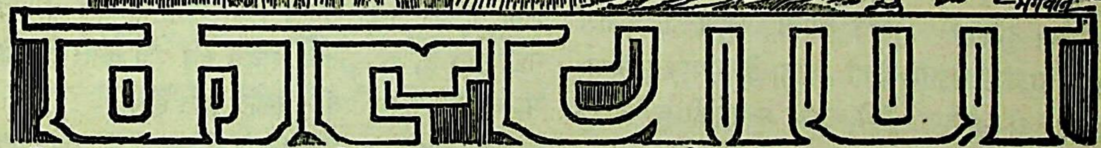




असुर-बालकोंको उपदेश देते हुए प्रह्लाद

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥





यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत् तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ५० } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०२, अगस्त १९७६ { संख्या ८ पूर्ण-संख्या ५९७

असुर-बालकोंको प्रह्लादका उपदेश

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः ॥
तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ६ । ३-४)

'अरे दैत्यो ! देहका सम्बन्ध होनेपर प्राणियोंको इन्द्रियजनित सुख तो दुःखकी भाँति अनायास ही सब योनियोंमें मिल जाता है, अतः उसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसमें तो आयुको व्यर्थ गँवाना ही है । उससे वह सुख नहीं मिल सकता, जो श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवासे प्राप्त होता है ।'

कल्याण

जिस प्रकार सत्सङ्गसे भगवत्कथा, भगवच्चर्चा, भगवन्नाम, भगवत्प्रीति, सदाचार, शास्त्र, विवेक, वैराग्य, सत्-अभ्यास, सेवा, सरलता, नम्रता, क्षमा, तितिक्षा, शौच, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निरभिमानता, शान्ति आदिके प्रति प्रवृत्ति होती है तथा मनुष्य सदाचारपरायण और परम भक्त बन सकता है, इसी प्रकार इसके विपरीत दुःसङ्गसे विषय-वार्ता, जगच्चर्चा, लोक-निन्दा, भोग-प्रीति, दुराचार, उच्छृङ्खलता, अविवेक, विषय-लोलुपता, दुष्ट-अभ्यास, मान, दम्भ, घमंड, क्रोध, असहिष्णुता, अपवित्रता, निर्दयता, हिंसा, असत्य, इन्द्रिय-लम्पटता, अभिमान, अशान्ति आदिके प्रति प्रवृत्त होकर मनुष्य अत्यन्त विषयासक्त एवं पाप-परायण हो जाता है। दुःसङ्गसे आसुरी सम्पत्तिके सभी दुर्गुणों और दुराचारोंका विकास एवं विस्तार होता है। दुःसङ्गसे मनुष्यके समस्त सद्गुणोंका विनाश होकर उसका सर्वनाश हो जाता है। परम सुशीला, स्नेहमयी, प्रेम-प्रतिमा देवी कैकेयी मन्थराकी कुसङ्गतिके कारण ही पतिके, पुत्रके, अपने और समस्त अयोध्या-वासियोंके परम शोकका कारण बनी थीं। इसी कारण उन्हें अन्तमें दुःखप्रद वैधव्यका कष्ट प्राप्त हुआ और प्राण-प्रिय पुत्रका अप्रीतिभाजन होकर रहना पड़ा। शकुनिकी कुसङ्गति ही महाभारतके भयानक संहारमें एक प्रधान कारण हुई। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥
(३।३१।३२-३४)

'जो मनुष्य शिश्नोदर-परायण (स्त्री और धनमें ही आसक्त) नीच पुरुषोंका सङ्ग करके उनके अनुसार बर्ताव करने लगता है, वह उन्हींकी भाँति अन्धकारमय नरकोंमें जाता है; क्योंकि दुष्ट-सङ्गसे सत्य, पवित्रता, दया, मननशीलता, बुद्धि, श्री, लज्जा, कीर्ति, क्षमा, मनका वशमें रहना, इन्द्रियोंका वशमें रहना, ऐश्वर्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्तचित्त, मूर्ख, नष्टबुद्धि, स्त्रियोंके हाथके खिलौने बने हुए, शोचनीय एवं असाधु मनुष्योंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।'

अतएव दुःसङ्गका त्याग तो सभीके लिये आवश्यक है; पर भगवत्प्रेमकी इच्छा करनेवालोंको तो यत्नपूर्वक दुःसङ्गका त्याग करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
(मानस ५।४५।४)

'विभीषण! नरकमें रहना अच्छा है, परंतु विधाता कभी दुष्टका सङ्ग न दे।' नरकोंके भोगनेसे तो पाप नष्ट होते हैं, पर दुष्टोंके सङ्गसे नये पाप बनते हैं, जो महान् हानिकारक एवं दुःखप्रद होते हैं।

दुष्ट-सङ्गसे केवल दुराचारी मनुष्योंका ही सङ्ग नहीं समझना चाहिये; प्रत्युत इन्द्रियोंका कोई भी विषय, जो हमारे मनमें असद्विचार तथा विषयोंकी लालसा उत्पन्न करे और भगवत्प्राप्तिके मार्गसे हमारे चित्तको चलायमान कर दे, दुःसङ्ग हो सकता है।

याद रखना चाहिये कि मनुष्यमें अच्छे और बुरे भावोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें कम-से-कम ये दस बातें प्रधान कारण होती हैं—स्थान, अन्न, जल, परिवार, अड़ोस-पड़ोस, दृश्य, साहित्य, आलोचना, आजीविकाका कार्य और उपासना। यदि ये सब सात्त्विक होते हैं तो इनके सेवनसे सात्त्विकता बढ़ती है, इन्हींका सेवन सत्सङ्ग है और यदि ये राजस या तामस हैं तो इनका सेवन दुःसङ्ग है और उससे अज्ञानकी वृद्धि होकर तमाम दोषोंका विकास हो जाता है। अतएव दुःसङ्गका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

—'श्रीभाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पारमार्थिक प्रश्नोत्तर]

(क)

१—गायत्री-मन्त्रमें ईश्वरके स्वरूपका एवं उनकी स्तुति-प्रार्थना और ध्यानका वर्णन है। साधनोपयोगी सभी बातें इसमें संगृहीत हैं, इसी कारण इसकी सभी प्रशंसा करते हैं। यह मन्त्र सभी वेदोंमें है। प्रातः और सायंकाल पवित्र हो संध्या-वन्दन करनेके उपरान्त एकान्त और शान्त स्थानमें बैठकर इसका जप करना चाहिये; साथ ही अर्थका चिन्तन भी होता रहे तो बहुत अच्छा है। इस मन्त्रको जपनेका अधिकार उसी द्विजाति मनुष्यको है, जिसका यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया हो; क्योंकि यह वैदिक मन्त्र है।

२—संस्कृत-ग्रन्थोंका पाठ संस्कृतमें ही करना चाहिये। उस भाषाको समझनेकी शक्ति प्राप्त हो जाय तो और भी अच्छा है; क्योंकि लेखकने जिस ग्रन्थको जिस भाषामें लिखा है, उसका पूरा भाव अनुवादमें आना कठिन है, उसमें अनुवादकके भावका मिश्रण हुए बिना नहीं रहता। अनुवादके साथ-साथ संस्कृतका पाठ करनेसे अर्थ-ज्ञान तो होता ही है, साथ ही संस्कृत भाषाका ज्ञान भी बढ़ सकता है, इसके लिये पहले अनुवादका पाठ करके तत्पश्चात् मूलका पाठ करना चाहिये।

३—नंगा होकर स्नान करनेसे एक तो जल-देवताका अनादर होता है, दूसरे मनमें दूषित भाव प्रकट होनेकी सम्भावना रहती है, तीसरे लज्जाकी हानि है। स्नान-घरमें भी नंगा न होकर स्नान भलीभाँति किया जा सकता है।

४—रेडियो सुनना इसलिये बुरा है कि समय नष्ट होता है तथा सुने हुए संस्कारोंके अनुरूप नयी-नयी वासनाएँ और संकल्प प्रकट होते हैं।

५—झूठ बोलनेकी आदतका कारण सुखका लोभ और दुःखका भय है। झूठ बोलनेसे जिस सुख और सम्मानके मिलनेकी आशा है, उससे सत्यका महत्त्व अधिक है—यह विश्वास हो जानेपर झूठ बोलना सहजमें ही छूट सकता है। सत्य बोलनेसे यदि दुःख मिलता हो तो वह स्वाभाविक तपस्या है।

६—परमात्म-स्वरूप भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीराममें कोई अन्तर नहीं है। एक ही भगवान्‌के दो रूप हैं। केवल आकार और लीलाका ही भेद है। श्रीब्रह्मा और श्रीशिव भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, कार्यभेदसे ही इनमें भेदकी प्रतीति होती है। श्रीतुलसीदासजीका कथन अपनी भावनाके अनुरूप है। वे श्रीराम-रूपके ही अनन्य-भक्त हैं, अतः अन्य सबको उनकी विभूति मानते हैं। इसलिये उनका कहना अपने भावके अनुसार ठीक ही है। वास्तवमें तो सेव्य और सेवक वे एक ही हैं। वे कभी श्रीराम-रूपमें श्रीशिवकी सेवा करते हैं, उनको अपना इष्ट मानते हैं और कभी श्रीशिवजी उनको अपना इष्ट मानते हैं। यह तो ईश्वरकी लीला है।

७—स्त्रीको देखकर विकार उत्पन्न होनेका कारण उसमें आसक्ति है। स्त्री-सङ्गसे सुख मिलता है—यह विश्वास ही इसका कारण है। यद्यपि यह विश्वास सर्वथा झूठा है, सभी मनुष्योंका विवेक इस बातको सिद्ध करता है। दूसरोंको सिखानेके लिये सब जानते हैं, पर स्वयं अपने विवेकका आदर कर इस झूठे विश्वासका त्याग नहीं करते। जीवनमें सुखकी इच्छा है। वास्तविक सुख प्रेममें है, जो 'प्रभु हैं' यह विश्वास करके उनको अपना मानकर उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेपर मिलता है। यद्यपि प्रभुसे प्राणीका नित्य सम्बन्ध है, पर दूसरे मिथ्या विश्वास

हृदयमें भर गये हैं, इस कारण सच्चे सम्बन्धको माननेमें कठिनाई प्रतीत होने लग गयी है। इसलिये जीवन नीरस हो गया है। यही कारण है कि मनुष्य सुखकी माँग पूरी करनेकी इच्छासे उसकी खोजमें भ्रमके कारण प्रतीत होनेवाले विषयोंमें सुख मिलनेकी कल्पना करके मोहवश उनमें फँसा रहता है।

८—सूर्योदयसे आधा घंटा पहले उठनेकी आदत बहुत अच्छी है। यदि इससे भी पहले उठनेकी इच्छा हो तो रात्रिमें शीघ्र सोना चाहिये; क्योंकि बाल्यकालमें सात घंटा सोना स्वास्थ्य-रक्षाकी दृष्टिसे आवश्यक है। भगवान्‌में प्रेम होनेपर तो निद्राका वेग अपने-आप कम हो सकता है।

९—जो लोग कहते हैं कि भगवान् नहीं हैं, वे बेचारे भोले हैं, उनका भगवान्‌पर विश्वास नहीं है। जो यह कहते हैं कि कलियुगमें भगवान् किसीको नहीं मिले और नहीं मिलेंगे, वे कलियुगमें होनेवाले श्रीतुलसीदासजी, मीराबाई, श्रीगौराङ्गमहाप्रभु आदि भक्तोंके जीवनसे परिचित नहीं होंगे और भगवान्‌के कृपालु स्वभावपर उनको भरोसा नहीं होगा; अतः उनके कथनका कोई मूल्य नहीं है। भगवान् कलियुगमें बहुतोंको मिले हैं और अब भी जो उनसे मिलना चाहे, उसे मिल सकते हैं। पर तब मिल सकते हैं, जब भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा हो और उनके प्रति अनन्य विशुद्ध प्रेम हो तथा प्रभुसे मिले बिना न रहा जा सके, साधक मिलनेके लिये व्याकुल हो जाय; क्योंकि उनके मिलनेका मुख्य उपाय उनका प्रेम ही है।

१०—सचमुच भगवान्‌की ओर लग जानेवालेका सुख-दुःख-भोगसे सदाके लिये सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। उसके जीवनमें जो दुःखदायिनी परिस्थिति आती है, उसे तो संसारकी असारता प्रदर्शित करके उसमें वैराग्य उत्पन्न करने तथा साधकको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये ही कृपा करके स्वयं प्रभु ही प्रदान करते हैं। इस रहस्यको समझनेवाले भक्तके लिये वह परिस्थिति दुःखदायिनी न होकर अद्भुत रस प्रदान करनेवाली होती है।

११—यह संसार न दुःखरूप है और न सुखरूप ही। मनुष्य अपनी भावनासे ही इसमें सुख-दुःखकी कल्पना कर लेता है। वास्तवमें तो यह प्रभुकी लीलाका क्षेत्र है। इस रहस्यको समझनेवाला भक्त तो उनकी लीलाका दर्शन करता हुआ सदैव उनके प्रेममें निमग्न रहता है और इस लीलामें सम्मिलित होकर अपने कर्तव्यके पालनद्वारा प्रभुकी पूजा करके उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहता है।

१२—कलियुगका समय शास्त्रके कथनानुसार अभी कई लाख वर्ष शेष है। जो लोग दो, तीन या चार वर्ष शेष बतलाते हैं, वे सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर कहते हैं; उनके पास कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है।

१३—मनको वशमें करनेका सरल उपाय कामनाका त्याग करना अर्थात् किसीसे कुछ न चाहना है।

१४—मनुष्योंका स्थूल-शरीर आकाशादि पाँच तत्त्वों-से बना है। इसमें पृथ्वी-तत्त्वकी प्रधानता है। देवताओं-का शरीर भी पाँचों तत्त्वोंसे ही बनता है, पर उसमें तेजस्तत्त्वकी प्रधानता होती है।

१५—सिद्ध पुरुष वे होते हैं, जिनको सिद्धि प्राप्त हो चुकी है। उनमें सबकी शक्ति एक-सी नहीं होती। उनकी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर दिव्य हो जाते हैं, अतः उनकी गति इच्छानुसार हो सकती है। वे सुदूर देश-कालकी घटनाको जाननेमें एवं शाप और वरदान देनेमें भी समर्थ हैं।

१६—यह कोई नियम नहीं है कि इतनी संख्यामें रामायणके पाठ करनेसे भगवत्साक्षात्कार होता है; क्योंकि भगवान्‌का मिलना किसी क्रियाके अधीन नहीं है, वह तो एकमात्र प्रेमसे ही होता है।

१७—सिनेमा देखना बुरा है; क्योंकि धर्म, वीररस और करुणरसादिके नामपर दिखाये जानेवाले सिनेमाओं-में भी ऐसे-ऐसे धर्म-विरोधी चित्र दिखाये जाते हैं, जिनका प्रभाव मनुष्यके जीवनपर बहुत बुरा पड़ता है। उससे बहुत हानि होती है, लाभकी सम्भावना बहुत ही कम है। यह जगत् भी एक सिनेमा है। अपने जीवनको देखनेपर हर प्रकारकी सुशिक्षा मिल सकती है।

(ख)

पूजनके लिये पूज्यमें विश्वास होना आवश्यक है। पूजन करते समय सावधानी, स्वस्थचित्तता और शुद्ध भावनासे भावित होनेकी आवश्यकता है। पूजनके लिये प्रतिज्ञा वाणीसे हो चाहे न हो, मनमें पूजा करनेका निश्चय और पूज्यमें आदर-भाव अवश्य होना चाहिये, नहीं तो ढोंग समझा जायगा। मूर्ति-पूजा तो स्नानादि-से शारीरिक शुद्धि करके ही करनी चाहिये। मानसिक पूजन चाहे जिस समय किया जा सकता है।

गीता और रामायणका पाठ आप जितना कर सकें, धैर्यपूर्वक करना चाहिये। जितना आप बिना किसी प्रकार-की कठिनाईके कर सकें, जितना समय आपको सहजमें ही मिल सकता हो, उतना पाठ करनेका नियम स्वयं ही निश्चित कर लें। गीताका पाठ करते समय पहले अर्थ फिर मूलका पाठ करनेसे श्लोकार्थ सुगम होता जाता है और रामायणका पाठ मूल दोहों-चौपाइयोंका भी कर सकते हैं। दोहों-चौपाइयोंका अर्थ जहाँ समझमें न आये, उस स्थलका अर्थ, जब समय मिले, एक बार समझ लें तो वह पाठके समय याद आ सकता है।

गीताका माहात्म्य तो गीताके अन्तिम अध्यायके पाठमें आ ही जाता है। रामायण-पाठका माहात्म्य भी रामायण-के अन्तर्गत है। अतः माहात्म्यका अलग पाठ करना विशेष आवश्यक नहीं है।

दूर स्थानपर स्नान करके जब घरपर आयें तो पैर धोकर पूजन आदिका काम करना चाहिये।

'ॐ नमः शिवाय'—इस मन्त्रका जप पवित्र अवस्था-में एक-दो माला, जितना सुगमतासे कर सकें, कर सकते हैं। अन्य समयमें सोलह नामवाले मन्त्रका जप करें। इस प्रकार करनेमें आपको सुविधा हो सकती है। सोलह नामवाले मन्त्रकी एक मालामें १६००से अधिक जप-संख्या हो जाती है, अतः उसकी १५ माला फेर लेनेसे ही २१६००से अधिक संख्या हो जाती है। जपके लिये शिव-मन्त्रमें रुद्राक्ष-की और सोलह नामवाले वैष्णव-मन्त्रके लिये तुलसीकी माला उत्तम मानी जाती है। ६५ माला प्रतिदिन जप करनेका समय विद्याध्ययन-कालमें सम्भव नहीं है। श्रीपोद्दार-जीका लिखना उन साधकोंके लिये समझिये, जिनको समय अधिक मिलता हो।

जप तीन प्रकारका होता है—साधारण, उपांशु और मानस। इनमें प्रत्येक उत्तरोत्तर दसगुना श्रेष्ठ है। मनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २। ८५)

'विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशु जप सौगुना और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

साधारण जप वह होता है, जिसे उच्चस्वरसे उच्चारण किया जाय।

मन्त्रका उच्चारण जीभसे करे, होंठ भी हिलते रहें, पर शब्द बाहर व्यक्त न हों, वह उपांशु जप कहलाता है।

जिस जपमें न जीभसे काम लिया जाय और न होंठ हिलें, मनके संकल्पसे ही जिसका उच्चारण होता रहे, वह मानसिक जप कहलाता है।

जप करते समय इष्टका स्मरण स्वाभाविक होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार, जैसे किसी व्यक्तिका नाम लेकर पुकारने-पर उस व्यक्तिका स्मरण अपने-आप होता है। इसी तरह स्मरण भी उसी इष्टका होना चाहिये, जिसको आपने जैसा निराकार या साकार मानकर विश्वास किया है।

जप नामका होता है और स्मरण उसका होता है,

जिसका वह नाम है; इनमें यही अन्तर है। नामका अर्थ वही है, जिसका वह नाम है। अतः जप करते समय नामीकी स्मृति रहना ही अर्थसहित जप कहलाता है।

यदि आपने पूजनके लिये कोई नियम न ले रखा हो, किसी मूर्तिकी पूजा नियमपूर्वक न करते हों तो अभी इसे आरम्भ न करके जपकी संख्या भी बढ़ा सकते हैं एवं अपने इष्टमें जो पूज्य-भाव है, उसीको पूजा मान सकते हैं या मानसिक पूजा भी कर सकते हैं। जिस प्रकार करनेसे आपका अपने इष्टसे सम्बन्ध हो और उनमें प्रेम बढ़े, वही करना आपके लिये ठीक प्रतीत होता है।

अपने इष्टका रूप, गुण, प्रभाव और चरित्र मनमें अङ्कित रहना चाहिये, जिससे जपके साथ-साथ अपने-आप उनका स्मरण होने लगे, उसके लिये किसी प्रकारका परिश्रम प्रतीत न हो; सहज स्वभावसे होना ही उत्तम है।

शरीरकी सफाईके लिये साबुन काममें न लाना आप सम्भव न मानते हों तो साबुन ऐसा काममें लायें, जो पवित्र हो, चर्बीरहित हो। दहीसे सफाई करना सर्वोत्तम है। उससे चमड़ा खराब नहीं होता। दहीका उपयोग करनेके बाद अधिक जलसे शरीरकी अच्छी प्रकार सफाई कर लेना आवश्यक है।

दाँतोंकी सफाईके लिये जो विशेष दिनोंमें दतुअन करनेकी मनाही है, वह इसलिये उचित है कि पौधोंसे दतुअन तोड़नेसे जो पौधोंको कष्ट होता है, उस पापसे बचा जा सके। अतः उस दिन अँगुलीसे रगड़कर या नमक-तैलसे दाँतोंकी सफाई कर लेना ठीक है।

(ग)

'किसी साधनको करते हुए निष्कपट-भावसे व्यापार भी करते रहें, जिससे अगले जन्ममें मनुष्य-देह अवश्य मिल सके और प्रयत्न करते रहनेसे कभी-न-कभी भगवत्प्राप्ति अवश्य हो सके', भगवत्प्राप्तिके लिये आपका यह सोचना तो ठीक है, किंतु भगवत्प्राप्तिको अगले जन्मपर नहीं रखना चाहिये। उसके लिये अनेक जन्मोंकी आवश्यकता नहीं है। वर्तमानमें जो मनुष्य-शरीर मिला है, यह भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो सकती है, किंतु आवश्यकता है— तीव्रतम इच्छाके साथ साधन करनेकी।

आर्थिक प्रश्नको लेकर पढ़ाई न करके व्यापार करनेकी इच्छा है तो गीताप्रेसकी पुस्तकों और सद्ग्रन्थोंका अध्ययन व्यापार करते हुए भी अवकाशके समय कर सकते हैं। गीताप्रेसकी साधक-नियमावलीको भरना भी अच्छा है, उससे नियमोंका पालन नियमपूर्वक होनेमें सहायता मिल सकती है। गीता-रामायणकी परीक्षा भी दे सकते हैं।

जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका उपाय ईश्वरकी भक्ति है। उससे काम-क्रोधादि विकारोंका नाश होकर सदाके लिये परमानन्दस्वरूप ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है।

आप अपनी दिनचर्या बनाकर उसके अनुसार चलना चाहते हैं तो नीचे दिनचर्याका कार्यक्रम लिखा जा रहा है—

प्रातः ४ बजे उठना।

४ से ५ तक शौच, भ्रमण, स्नान आदि करना।

५ से ८ तक (यदि यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ हो तो) संध्या-गायत्री-जप, गीताके एक अध्यायका अर्थसहित अभ्यास, गीता-तत्त्व-विवेचनीके दो श्लोकोंका अर्थसहित मनन, आधा घंटा

अपने इष्टदेवका गुण-प्रभावसहित ध्यान, भक्तिपूर्वक तथा अर्थ और भावसहित 'हरे राम····' इस षोडश मन्त्रकी सात मालाका जप, भगवान्‌की मानसिक पूजा, स्तुति और प्रार्थना करना ।

८ से ८॥ तक जलपान ।

८॥ से ११॥ तक भगवान्‌को सर्वव्यापक समझकर उनके नामका जप करते हुए स्वार्थ-त्यागपूर्वक लोकसेवाके उद्देश्यसे सात्त्विक व्यापारका काम देखना ।

११॥ से १२ तक भोजन ।

१२ से ५ तक पूर्वोक्त रीतिसे (८॥ से ११॥ की भाँति) व्यापार और पत्र-व्यवहारका काम देखना ।

५ से ८ तक प्रातःकालकी तरह ही संध्या-गायत्री-जप-ध्यान आदि साधन करना ।

८ से ८॥ तक भोजन ।

८॥ से १० तक व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सुधारके लिये घरके लोगोंसे बातचीत करना ।

१० से ४ तक भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावका स्मरण करते-करते शयन करना ।

उपर्युक्त दिनचर्याका विभाग गीता (६ । १७)के आधारपर किया गया है । प्रधान बात यह है कि ६ घंटा शयनमें, ६ घंटा साधनमें, ८ घंटा व्यापारमें और ४ घंटा शौचाचार, आहार-व्यवहारमें लगाना चाहिये । इसमें देश, काल और परिस्थितिके अनुसार समयको कम-अधिक कर सकते हैं ।

(अप्रकाशित पत्रोंसे)

दीनबंधु, हे दीनानाथ !

(रचयिता—श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

किये निरंतर इतने पाप,
जिनकी कोई तौल न माप,
अब होता है पश्चात्ताप,
झुका न क्यों चरणोंमें माथ ?
दीनबंधु, हे दीनानाथ !

दारुण दुःखोंसे हो आर्त,
सूझ रहा बस, अब परमार्थ,
हे करुणामय ! करो कृतार्थ,
मुझ दुखियाका दे दो साथ !
दीनबंधु, हे दीनानाथ !

कामादिकसे हूँ मैं ग्रस्त,
भव-सागरके भयसे त्रस्त,
डूब रहा हूँ होकर पस्त,
अब तो पकड़ो मेरा हाथ !
दीनबंधु, हे दीनानाथ !

जीवका भगवान्‌के साथ रमण

[कुब्जा-श्रीकृष्ण-प्रसङ्गका रहस्य]

(अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

कुछ लोग कुब्जाके प्रसङ्गको लेकर भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रपर आक्षेप करते हैं, परंतु जिस ग्रन्थमें श्रीकृष्णका कुब्जाके साथ अङ्ग-सङ्ग वर्णित है, उसीमें उनको परात्पर ब्रह्म कहा गया है और यह भी कहा गया है कि 'वास्तवमें तो भगवान् अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणोंके अधिष्ठान हैं, मनुष्योंके कल्याणके लिये ही उनका सगुण-रूपसे अवतार होता है। जो पुरुष भगवान्‌में निरन्तर काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्दका भी भाव रखते हैं, वे भी तन्मयताको ही प्राप्त हो जाते हैं'—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । १४-१५)

'काम अथवा भयसे प्राणी जिस प्रकार तन्मयताको प्राप्त होता है, वैसा भक्तियोगसे नहीं'—

यथा कामाद् भयाद् वापि मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥

लोक-सम्बन्धमें निन्द्य वस्तु भी भगवत्सम्बन्धसे प्रशंसनीय हो जाती है। संसारकी तृष्णा निन्द्य है, परंतु भगवत्प्राप्तिकी तृष्णा प्रशंसनीय होती है। संसारकी इच्छाएँ त्याज्य होती हैं, परंतु भगवत्तत्त्व-ज्ञानकी इच्छा—जिज्ञासा ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा सिद्ध करते हैं—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।
(बृ० उ० ४ । ४ । २२)

जैसे चिन्तामणिकी ओर दीपक-बुद्धिसे भी प्रवृत्ति होनेसे चिन्तामणिकी प्राप्ति होती है, दीपककी नहीं, उसी तरह परमात्मा श्रीकृष्णमें जार (उपपति)-बुद्धिसे भी प्रवृत्ति होनेपर परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, जारकी नहीं। लौकिक जार-धर्म पुण्य-परलोकको जलाता है, किंतु श्रीकृष्ण अविद्या-ग्रन्थि, कर्म-जाल तथा पञ्चकोशोंको जलाते हैं।

शास्त्रोंके अनुसार भगवान् आनन्द-समुद्र-तुल्य हैं और समस्त जीव उसकी तरङ्ग-सदृश। यही श्रीशंकराचार्य भी मानते हैं—

'सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।'
(षट्पदी ३)

'तरङ्ग समुद्रका होता है, समुद्र तरङ्गका कभी नहीं होता।'

बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥
(मानस ७ । ११० । ३)

एक तरङ्गका तरङ्गान्तरोंके साथ सम्बन्ध अस्थिर तथा व्यभिचरित होता है, किंतु तरङ्गोंका समुद्रके साथ सम्बन्ध स्थिर एवं नित्य होता है। वैसे ही पति-पुत्र-पत्नीरूपसे जीवोंका सम्बन्ध अस्थिर एवं अनित्य ही होता है, किंतु उनका परमेश्वरके साथ सम्बन्ध स्थिर है।

इस तरह कुब्जा एवं गोपाङ्गनाएँ तथा उनके पति सभी जीव हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध अस्थिर है। भगवान्‌का सम्बन्ध ही समुद्र-तरङ्गके सदृश नित्य है, अतः कुब्जा आदिका लौकिक पति आदि जीवोंके साथ सम्बन्ध व्यभिचार है, भगवत्-सम्बन्ध ही उनका शुद्ध पातिव्रत है। सीता-रामजीके सम्बन्धको भी वारि-वीचिसे उपमित किया गया है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
(मानस १ । १८)

श्रीनन्ददासजीके मतानुसार गोपाङ्गनाओंके अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राणों तथा रोम-रोममें श्रीकृष्ण इस तरह व्याप्त हैं, जैसे तरङ्गोंमें जल भरपूर होता है—'तरंगनि वारि ज्यों।' सम्भोग भी भोग्यके साथ भोक्ताकी तादात्म्यापत्ति ही है। **'सविता गोभी रसं भुङ्क्ते'**—सविता अपनी किरणोंसे

भूमिके रसका सम्भोग करते हैं। दिव्य दम्पति—पति-पत्नी भी प्रेमोद्रेकमें व्यवधान-शून्य होकर मिलते हैं। उस समय उन्हें हार, भूषण, कञ्चुकी आदिका व्यवधान असह्य होता है। यहाँतक कि प्रेमोद्रेकजनित रोमाञ्च-व्यवधान भी बाधक प्रतीत होता है। सर्वाधिक व्यवधानराहित्य तरङ्ग और जलमें ही है।

किसी दृष्टिसे तो चन्द्र-चन्द्रिका तथा भानु-प्रभा-जैसा अव्यवधान अभीष्ट होता है। जैसे गङ्गाजलमें तरङ्गसे भी अन्तरङ्ग उसकी शीतलता, मधुरता एवं पवित्रताका सम्बन्ध होता है, आनन्द-सिन्धुकी तरङ्गकी अपेक्षा भी उसकी मधुरिमाका सम्बन्ध अन्तरङ्ग होता है, उसी तरह आनन्द-सुधा-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्णमें तरङ्गस्थानीया गोपाङ्गनाएँ हैं, किंतु उनके माधुर्य-सार-सर्वस्वकी अधिष्ठात्री श्रीराधा हैं। उनका सम्बन्ध अत्यधिक अन्तरङ्ग है। इसी अत्यन्त अभेदमें रमण और सम्भोग शब्दोंका प्रयोग होता है। भारतीय शास्त्रोंमें इस प्रकारके शब्दोंके प्रयोग मिलते हैं, जो अश्लील-से प्रतीत होते हैं। गीतामें कहा गया है—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।'

(गीता १४ । ३)

'महद्ब्रह्म—प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूँ।' यहाँ प्रकृतिमें ब्रह्मरूप बिम्बका प्रतिबिम्ब डालना ही गर्भाधान है।

बृहदारण्यकोपनिषद्‌में उल्लेख है कि जैसे कोई प्रियतमा भार्याका आलिङ्गन करके आनन्दोद्रेकमें आन्तर-बाह्य सभी प्रपञ्चोंको भूल जाता है, वैसे ही जीवात्मा सुषुप्ति-कालमें परमात्मासे मिलकर आनन्दोद्रेकमें सब कुछ भूल जाता है—

तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यम्। (४ । ३ । २१)

कबीरदासतक सातवें आसमानमें अपने निर्गुण पियाके सेजकी कल्पना कर वहाँ पहुँचनेकी तैयारी करते हैं। उसी प्रकार जीव-ब्रह्मके सम्मिलनमें नायिका-नायकके सम्मिलन और रमणका आरोप किया जाता है। इसमें भी स्वसुखसुखित्वकी भावनाके कारण कुब्जाकी साधारणी रति मणि-तुल्य दुर्लभ होती है। रुक्मिणी-प्रभृतिकी समञ्जसा-रतिमें तत्सुखसुखित्व एवं स्वसुखसुखित्व-का समन्वय होनेसे वह चिन्तामणिके समान अति दुर्लभ है। गोपाङ्गनाओंकी शुद्ध तत्सुखसुखित्वरूपा समर्था रति कौस्तुभमणिके सदृश अनन्यलभ्य है।

संसारसे विमुख होकर भगवत्सम्मिलन-सुख प्राप्त करना योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंका लक्ष्य होता है, परंतु वहाँ भी **'निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्'**के अनुसार सुखास्वादनकी आसक्तिका त्याग विवक्षित होता है। इसे 'पर-वैराग्य' कहा जा सकता है। दृष्ट-आनुश्रविक विविध विषयोंसे वितृष्णता 'अपर-वैराग्य' है। परंतु गुणों—शान्ति, सत्पुरुषान्यताख्याति आदि दिव्य सात्त्विक भावोंसे भी निःस्पृहताका होना 'पर-वैराग्य' है। ब्रह्म-रसास्वादन-में भी स्वसुखके लिये नहीं, किंतु श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही सर्वचेष्टा तत्सुखसुखित्व है।

इसी प्रकार अन्यपरा श्रुतियाँ 'परकीया' मानी जाती हैं और ब्रह्मपरा 'स्वकीया'। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठोप० १ । २ । १५)के अनुसार सभी वेद-मन्त्रोंका महान् तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, फिर भी इन्द्र, वरुण, अग्नि आदिके भी सूक्त हैं, जो उन देवताओंका प्रतिपादन करते हैं; परंतु इसका अभिप्राय यही है कि उन-उन मन्त्रों—सूक्तोंका अवान्तर तात्पर्य उन-उन देवताओंमें होनेपर भी उनका मुख्य तात्पर्य ब्रह्ममें ही है।

वस्तुतः जैसे किसी पादुका, पाषाण, प्रासादका कहीं भी पादविन्यास हो, वह भूमण्डलपर ही होगा; क्योंकि वे सभी भूमण्डलके ही विकार हैं, उसी तरह

इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि किसीका भी प्रतिपादन ब्रह्मका ही प्रतिपादन है; क्योंकि वे सभी ब्रह्मके ही विकार हैं। परंतु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोप० २।१।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३।९।२८) आदि श्रुतियाँ अन्य सम्बन्ध बिना शुद्ध-रूपसे ब्रह्म-सम्बद्ध ही हैं। प्रथम कोटिकी श्रुतियाँ अन्यपूर्विका और द्वितीय कोटिकी अनन्यपूर्विका हैं। अन्यपूर्विका श्रुतियाँ श्रीकृष्णकी परकीया हैं और अनन्यपूर्विका स्वकीया। उनके पति, उनके प्रतिपाद्य इन्द्र-वरुणादि भिन्न-भिन्न देव हैं।

रघुवंश महाकाव्य (१।१)में महाकवि कालिदासने शिव-पार्वतीको वाक् और अर्थके समान परस्पर सम्पृक्त माना है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इस प्रकारके सम्बन्धको ही—'**गिरा अरथ जल बीचि सम**' व्यक्त किया है। ऐसे अभेद, तादात्म्य आदि सम्बन्धोंको ही रमण और सम्भोग आदिकी संज्ञा दे दी जाती है।

विद्वानोंकी दृष्टिमें '**स्वातन्त्र्यं पुंस्त्वम्**' और '**पारतन्त्र्यं स्त्रीत्वम्**'का सिद्धान्त है। सभी जीवोंमें परतन्त्रतारूप स्त्रीत्व स्वाभाविक है। स्वातन्त्र्य तो केवल एक परमेश्वरमें ही है। इस दृष्टिसे सभी जीव परतन्त्र होनेसे स्त्री ही हैं। स्वतन्त्र होनेसे पुरुष तो एकमात्र श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं। इसीलिये गोपाङ्गना-भावकी प्राप्ति ही जीवके कल्याणका मार्ग है।

जैसे पतिव्रता पतिकी कायाकी छाया बन जाती है, पतिके मनमें मन, हृदयमें हृदय, आत्मामें आत्मा मिलाकर तदधीन स्थिति-गति-प्रवृत्तिवाली हो जाती है, इसी तरह जीव भी यदि भगवान्‌की स्थिति-गति-प्रवृत्तिवाला हो तो उसकी वह स्थिति ही गोपाङ्गना-भाव है। इसी दृष्टिका चित्रण करते समय स्त्री-पुरुषके रमणका रूपक दे दिया जाता है। इसी दृष्टिसे कुब्जा और श्रीकृष्णकी कथा है। केवल बाहुपाशके भीतर ही नहीं, किंतु अपने अन्तःकरण, अन्तरात्मा और रोम-रोममें श्रीकृष्णको स्थापित करना ही जीवका भगवान्‌के साथ रमण है।

कलियुगमें श्रीकृष्ण-नामका माहात्म्य

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जपति यो जनः।
तस्य प्रीतिः कलौ नित्यं कृष्णस्योपरि वर्द्धते॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जाग्रत् स्वपंश्च यः।
कीर्तयेत्तु कलौ चैव कृष्णरूपी भवेद्धि सः॥

(स्क० पु० द्वा० मा० ३८।४५-४६, ३९।१)

'जो कलियुगमें नित्यप्रति 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण'का उच्चारण करेगा, उसे प्रतिदिन दस हजार यज्ञों और करोड़ों तीर्थोंका पुण्य प्राप्त होगा। जो मनुष्य नित्य 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण'का जप करता है, कलियुगमें श्रीकृष्णके ऊपर उसका प्रेम निरन्तर बढ़ता है। जो कलिमें प्रतिदिन जागते और सोते समय 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण'का कीर्तन करता है, वह श्रीकृष्णस्वरूप हो जाता है।'

मनुष्यत्व

(दिवंगत महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज)

प्राचीन हिंदू-शास्त्रमें—केवल हिंदू-शास्त्रमें ही नहीं, अन्यान्य देशोंके धर्मशास्त्रोंमें भी इतर प्राणियोंके जीव-देहकी अपेक्षा मानव-देहको अधिक उत्कृष्ट माना गया है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष-संश्रय—इन तीनोंका अतिदुर्लभ पदार्थके रूपमें वर्णन किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन तीनोंमें भी मनुष्यत्व ही प्रधान है; क्योंकि मनुष्य-देहकी प्राप्ति हुए बिना मुक्तिकी इच्छा तथा महापुरुष या सद्गुरुका आश्रय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चौरासी लाख योनियोंके बाद भगवान्के मङ्गलमय विधानसे मनुष्य-देहकी प्राप्ति होती है। चौरासी लाख योनियोंमें स्थावर-जङ्गम सबका समावेश है। स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज—इन त्रिविध प्राणियोंमें जरायुज श्रेष्ठ हैं तथा जरायुजोंमें भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं। चौरासी लाख योनियोंमें जो क्रम-विकासकी धारा दीख पड़ती है, वह केवल प्राकृतिक क्रमका अवलम्बन करके काल-राज्यमें अभिव्यक्त होती है। इन सब योनियोंमें ज्ञान और शक्तिगत जो तारतम्य दीख पड़ता है, उसके मूलमें कर्मगत वैचित्र्य नहीं है। वह केवल प्राकृतिक व्यापार है। एक ही देहमें जैसे क्रमशः बाल्य, यौवन और वार्द्धक्यका विकास होता है, उसी प्रकार एक ही मूल जीवन-धारामें क्रमशः निम्नकोटिके जीवसे आरम्भ करके अधिकाधिक उत्कृष्ट जीव-जातिकी अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस आरोह-क्रममें प्रकृतिका स्वाभाविक विवर्तन ही एकमात्र नियामक होता है। जिस नियममें अव्यक्त सत्ता किसी निर्दिष्ट क्रमके प्रवाहमें अभिव्यक्तिकी ओर अग्रसर होती है, उसी नियममें आदि जीवस्पन्द प्रकृतिके सहयोगसे क्रमशः आधारके क्रमविकास-मूलक अपने क्रमविकासके मार्गमें धीरे-धीरे अग्रसर होता है। एक विचित्र शक्ति प्रकृतिमें निहित रहती है और विशिष्ट देहमें यथासमय इन सभी शक्तियोंका विकास होता है।

अन्नमय कोषका पहले विकास होता है। इस विकास-से ही असंख्य जीव-योनियोंका अतिक्रमण संघटित होता है। क्रमशः अन्नमय कोषमें प्राणशक्तिके अधिकाधिक विकासके फलस्वरूप अन्नमय कोषकी पुष्टताके साथ-साथ प्राणमय कोषका भी विकास होता जाता है। प्राणमय कोषके विकासके फलस्वरूप क्रमशः अति जटिल प्राणचक्रोंकी अभिव्यक्ति होती है। यह प्रसिद्ध है कि आत्मसंवित् पहले प्राणमें परिणत होकर देहके भीतर व्यापक-भावसे क्रिया करती है। यह प्राणशक्तिकी क्रिया विभिन्न श्रेणियोंमें विभक्त होती है; परंतु इन समस्त शक्तियोंके संचालनके लिये विभिन्न मार्ग आवश्यक हैं। इन सब मार्गोंको नाड़ी या शिरा कहते हैं। अभिव्यक्तिके नियमके अनुसार जैसे प्राणशक्तिके विभिन्न स्तर हैं, उसी प्रकार इन नाड़ियोंके भी पृथक्-पृथक् स्तर हैं। नाड़ी-चक्रकी यह जटिलता क्रमशः प्राणशक्तिके विकासके साथ-साथ वर्द्धित होती है। पश्चात् ऐसा समय आता है, जब प्राणमय कोष मनोमय कोषमें परिणत हो जाता है। इस परिणतिके समय देहका आमूल परिवर्तन घटित होता है; क्योंकि उस समय केवल प्राणशक्ति-के संचालनके मार्गके अतिरिक्त मनोमय शक्तिके संचालनका मार्ग भी प्रकाशित होने लगता है। इसको मनोवहा नाड़ी कहते हैं। प्राणवहा नाड़ी जैसे अनेक प्रकारकी होती है, उसी प्रकार मनोवहा नाड़ी तदपेक्षा और भी अधिक वैचित्र्यसे युक्त होती है।

मनोमय कोषकी अभिव्यक्ति और मनुष्य-देहकी अभिव्यक्ति समकालमें सम्पादित होती है। अतएव प्राणमय कोषका पूर्ण विकास और मनोमय कोषका पूर्वाभास लेकर ही चौरासी लाख योनियोंकी परिसमाप्ति होती है। मनोमय कोषका विकास और मनुष्य-देहका उद्भव एक ही बात है। चौरासी लाख योनियोंके अवसानकी ओर पशु आदिमें मानवोचित वृत्तियोंका कुछ पूर्वाभास देखनेको मिलता है। ये सारी वृत्तियाँ मानसिक वृत्तियोंके रूपमें ही प्रतीत होती हैं, परंतु ये मनके आभासमार्ग हैं। प्रकृत मन उस समय भी अवगत नहीं होता। एकमात्र मनुष्य-देहमें ही यथार्थ मनोमय कोषकी स्थिति और क्रिया सम्भव है। मनुष्य-देह-में विचार और विवेक-शक्ति क्रमशः प्रस्फुटित होती है। शुभ और अशुभ, सत् और असत्—इन दोनोंकी विचारपूर्वक विवेचना करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमें ही सम्भव है। मानव-देहमें मनकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ अहंमति या अभिमानका उद्भव और विकास घटित होता है। मनुष्यके सिवा अन्य पशु-योनियोंमें यह अभिमान स्पष्टरूपसे उदित

नहीं होता। इस अभिमानसे व्यक्तित्वके बोधका सूत्रपात होता है तथा 'मैं' और 'तुम'—इन दोनों भावोंके बीच भेद-ज्ञानका आविर्भाव सम्भव होता है। यह अभिमान क्रियमाण कर्म और उपभुज्यमान फल—दोनों ही ओर समभावसे वृद्धिको प्राप्त होता है, अर्थात् एक ओर जैसे कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न होकर अपनेको कर्त्ता-रूपमें परिचित कराता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भोक्तृत्वाभिमानके प्रभावसे अपनेको सुख-दुःखके भोक्ताके रूपमें परिचित कराता है। कर्म करना और कृत कर्मका फल-भोग करना—दोनोंके मूलमें देहके साथ तादात्म्य-बोध अविवेकके द्वारा उत्पन्न हुआ है और यही एक ओर जैसे कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्तिका हेतु है, दूसरी ओर उसी प्रकार कर्मफल-भोगका भी हेतु है। यही सांसारिक जीवनका वैशिष्ट्य है।

इससे समझा जा सकता है कि जीव मनुष्य-देहमें प्रकट होनेके बाद संसारी बनकर अपने-अपने संस्कारके अनुसार प्रकृतिके राज्यमें शुभाशुभ कर्म करता रहता है और उसका फल-भोग करनेके लिये कर्मानुरूप देह ग्रहण करनेको बाध्य होकर लोक-लोकान्तरमें अनुरूप देहोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। इसी प्रकार असंख्य जन्म बीत जाते हैं और इस जन्म-परम्पराके भीतर जीवको विभिन्न प्रकारके शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। शुभ कर्मोंके फलस्वरूप ऊर्ध्वलोकमें गति होती है और नाना प्रकारके देवताओंके शरीर प्राप्त होते हैं। अशुभ कर्मोंके फलसे उसी प्रकार अधोलोकमें गति होती है तथा पशु आदि निम्न योनियोंमें पतन हो जाता है। साधारणतः मिश्र-कर्मके फलसे ही जीव पुनः मनुष्य-देहमें लौट आता है।

यहाँ एक बात याद रखने योग्य है कि मनुष्य निम्न स्तरके पशु-पक्षी आदि कोई देह ग्रहण करनेपर भी उस देहमें दीर्घकालतक नहीं रहता। आरोह-क्रमसे जो जीव पशु-पक्षीके शरीरमें जन्म लेते हैं, उनको मनुष्य-देहमें साधारण तथा निर्दिष्ट क्रमका भेद करके आना पड़ता है, परंतु अवरोह-क्रममें ऐसा नहीं होता; क्योंकि अवरोह-क्रमसे जो जन्म होता है, वह केवल कर्म-फल-भोगके लिये ही होता है। भोग पूरा हो जानेपर मनुष्य-देहमें जीव फिर लौट आता है। आरोह-क्रमसे कर्मफल-भोगके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह पहले ही कहा जा चुका है। जो कर्मवादी नहीं हैं, उनके लिये पशु, पक्षी आदिकी देहसे पुनः मनुष्य-देहमें आना जागतिक औचित्य शक्तिके ऊपर निर्भर करता है और वह कब संघटित होता है, यह कहना बहुत ही कठिन है। इस विषयमें अधिक विस्तार इस प्रसङ्गमें अनावश्यक है।

जिस अभावको लेकर जीव मनुष्य-देहमें जन्म लेता है, वह भोगके साथ-साथ भोगाकाङ्क्षाकी वृद्धिके फलस्वरूप क्रमशः बढ़ता जाता है। अनेक जन्म बीत जानेपर एक ऐसा समय आता है, जब भोगाकाङ्क्षा क्रमशः शिथिल हो जाती है; क्योंकि जब यह देखा जाता है कि अनन्त प्रकारकी भोग्य-वस्तुओंका अनन्त प्रकारसे भोग करके भी भोगाकाङ्क्षा शान्त नहीं होती, तब मनमें ग्लानि उत्पन्न होती है और अस्फुट रूपमें निर्वेद और वैराग्यका भाव जाग्रत् होता रहता है। तब प्रवृत्तिकी ओर गतिका वेग घटने लगता है तथा चित्त निवृत्तिभावका आश्रय लेकर क्रमशः अन्तर्मुख होनेकी इच्छा करता है। किसकी यह अवस्था कब होगी! यह बतलाना कठिन है, किंतु जब भी यह होगी, तभीसे उसके अभिनव जीवनका सूत्रपात होगा, यह जानना चाहिये। उस समय जीवको यह आभास होता है कि एक महाशक्ति इस विश्वके भीतर और बाहर कार्य कर रही है, वह प्रकृति है, उसके गुणोंके द्वारा जगत्के सारे कार्य हो रहे हैं। जीव इस प्रकृतिके जालमें फँसकर अविवेक-वश समझता है कि कार्यका कर्ता वही है। जीवका यह कर्तृत्वाभिमान मिथ्या ज्ञानका कार्य है। अज्ञ जीव अपनी सामर्थ्यसे कोई कर्म नहीं कर सकता, परंतु प्रकृतिके किये हुए कर्मको भ्रमवश अपना कर्म समझने लगता है। इसीके फलस्वरूप उसको संसारी बनकर नाना प्रकारके सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। आभासरूपसे यह ज्ञान वैराग्यके साथ-साथ किसी-किसीके भीतर जाग उठता है। तब जीव यह समझ पाता है कि आनन्दकी खोजमें वह इस विराट् विश्वमें जन्म-जन्मान्तरसे भटकता आ रहा है। वह आनन्द उसको बाहर किसी देहमें या लोक-लोकान्तरमें उपलभ्य नहीं है, अतएव बारंबार बाहर घूमकर परिक्लान्त होनेकी उसकी इच्छा नहीं होती; परंतु वह आनन्द है कहाँ, इसका पता उसे नहीं होता। अस्फुटरूपसे उसके हृदयमें आनन्दका यह संवाद प्रस्फुटित हो उठता है और वह जान लेता है कि वह ध्रुव सत्य है; परंतु इसकी प्राप्तिके लिये कौन-सा मार्ग ग्रहण करके किस प्रकार अग्रसर हुआ जाय, यह उसकी समझमें नहीं आता। दिन-प्रतिदिन

व्याकुलता बढ़ती जाती है तथा वैराग्य भी तीव्र होता जाता है, साथ ही इस अखण्ड विश्वमें वह अपनी क्षुद्रताका भी अनुभव करता है; परंतु जबतक मार्गका संधान नहीं पाता, तबतक अग्रसर नहीं हो पाता।

यह आनन्द ही वस्तुतः उसका स्वरूप है और इसका संधान पानेके लिये ही उसको समस्त जीवन लगा देना उचित है, इस बातको वह समझ लेता है। भगवान् शंकराचार्यने जिस मुमुक्षुत्वकी बात कही है, वह इसी समय उदित होता है। जिस प्रकार चौरासी लाख योनियोंके बाद मनुष्य-देहकी प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार वैराग्यका उदय और आनन्दस्वरूप निज आत्माका परिचय प्राप्त करके माया-जालसे मुक्त होनेकी आकाङ्क्षा भी दुर्लभ है। यह आकाङ्क्षा ही मुमुक्षा है।

इसके बाद भगवान् शंकराचार्यने महापुरुषके आश्रयकी बात कही है। वे महापुरुष ही सद्गुरु हैं तथा भ्रान्त जीवको स्वस्थानमें लौटाकर स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेके अधिकारी हैं। आचार्यने सद्गुरु-प्राप्तिको अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु माना है, यह सब सत्य है; परंतु यह भी सत्य है कि दुर्लभ मनुष्य-देह प्राप्त करनेपर, उससे भी अधिक दुर्लभ वैराग्य और निवृत्तिभाव तथा मुक्तिकी आकाङ्क्षा प्राप्त करनेपर, सद्गुरुकी कृपाकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अवश्यम्भावी है।

सद्गुरुको खोज करके निकालना नहीं पड़ता, परंतु कभी-कभी अपने कर्मके क्षयके लिये अन्वेषण आवश्यक होता है। समय पूरा होनेपर सद्गुरु स्वयं ही मुमुक्षु जीवको दर्शन देते हैं। सद्गुरुके बिना मार्गका संधान कोई नहीं पाता। मार्गपर चलाकर ले चलनेकी शक्ति भी किसीमें नहीं होती तथा महालक्ष्यका साक्षात् परिचय भी दूसरोंको नहीं होता; परंतु अल्पज्ञ जीव मायासे मोहित होकर दिग्भ्रान्तरूपमें भटक-भटककर सद्गुरुका संधान नहीं पा सकता। सद्गुरु वस्तुतः श्रीभगवान् हैं। उनकी अनुग्रहशक्ति ही 'गुरु-पद' वाच्य है। वे उपेय हैं अर्थात् उपायके सहयोगसे प्राप्त होते हैं और उपाय भी वे ही स्वयं हैं। वे अपना मार्ग स्वयं न दिखायें तो कौन उनको खोज निकाल सकता है। वे ही पथ हैं तथा वे ही पथके गन्तव्य स्थान हैं। यह पथ छोटा है या बड़ा—इसको भी एकमात्र वे ही जानते हैं, उनका अनुग्रह होनेपर बहुत लंबा पथ भी छोटा हो सकता है। उनका अनुग्रह शिथिल होनेपर लघु पथ भी दीर्घरूपमें परिवर्तित हो जाता है और महान् अनुग्रहके समय क्षणभरमें ही पथ अदृश्य भी हो जाता है, एकमात्र स्वयंप्रकाश वे ही अखण्ड-भावसे विराजमान हो जाते हैं। याद रखनेकी बात है कि साधारणतया एक उपयुक्त आधारका अवलम्बन करके गुरुरूप श्रीभगवान् जीवके सामने अपनी अनुग्रह-शक्तिको प्रकाशित करते हैं। इस शक्ति-प्रकाशकी धारा अखण्ड है। जीवनकी योग्यता विभिन्न प्रकारकी होती है, अतएव विभिन्न जीवोंके सामने विभिन्न भावसे इस शक्तिका प्रकाश होता है।

गुरुका प्रधान कार्य है—आश्रित शिष्यकी दृष्टिका पर्दा खोल देना तथा उसको सत्यके अनावृत स्वरूपका दर्शन कराना। जीवका आत्मस्वरूप क्या है, यह जानना आवश्यक है; क्योंकि यही सत्यका यथार्थ स्वरूप है। इस स्वरूपको दिखा देना तथा जो पथ इस स्वरूपकी उपलब्धिकी ओर अग्रसर होता है, उसको दिखा देना गुरुका कार्य है; परंतु उस पथपर चलना तथा क्रिया-कौशल, भावना अथवा संवेगके द्वारा उस पथको पूरा करना शिष्यका काम है; गुरुकी कृपा और शिष्यका आत्मपौरुष सम्मिलित होकर असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। शिष्य क्षणमात्रके लिये भी अपने स्वरूपको देखकर समझ सकता है कि वह आजतक अपनेको जो समझता रहा है, वह नहीं है अर्थात् देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं है।

चिरकालतक भोग-मार्गमें चलते-चलते इन्हींको वह अपनी सत्ताके रूपमें समझने लगा था। गुरुकी कृपासे वह जब समझ जाता है कि वस्तुतः वह इनमेंसे कोई भी नहीं है। वह इन सब अनात्म-सत्ताओंसे पृथक् वस्तु है और चेतन-स्वरूप है। अब वह विज्ञानमय देहमें प्रतिष्ठित हो गया है।

विवेक उत्पन्न होने तथा देहके प्रथम आविर्भावके बाद सुदीर्घ कालतक क्रम-विकासके पथसे विभिन्न स्तरोंमें होते हुए इसे अग्रसर होना पड़ता है। जीव-देह क्रमशः अभिव्यक्त होकर मनुष्य-देहमें जबतक परिणत नहीं होती, तबतक यह प्रश्न उठता ही नहीं कि यह कौन है और उसका स्वरूप क्या है! मनुष्य-देह प्राप्त होनेपर भी देहादिके अभिमानसे युक्त होनेके कारण अपने यथार्थ स्वरूपके

विषयमें कोई प्रश्न ही उसके चित्तमें नहीं उठता। सुदीर्घ कालतक कर्मफल-भोग करनेके बाद अन्तमें अवसादग्रस्त होकर जब वह जीवनकी निष्फलताका अनुभव करता है, तब वस्तुतः 'मैं क्या हूँ?'—इस प्रश्नका उदय होता है। उसके बाद जबतक यह प्रश्न जड़ नहीं जमा लेता, तबतक इसका समाधान प्राप्त नहीं होता, पश्चात् गुरुकृपासे संशय, भ्रम आदि दूर होकर 'सोऽहम्' रूपमें अर्थात् 'मैं ही वह परम पदार्थ हूँ', इस रूपमें प्रत्यक्षतः उस प्रश्नका उत्तर प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य-देह वस्तुतः समस्त विश्वका प्रतीक है। नीचे-ऊपर और बीचमें जहाँ जो कुछ है, सबका सार ग्रहण करके यह शरीर रचा गया है। इसीलिये कहा जाता है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्डमें है और जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया था, परंतु वस्तुतः सब कुछ ही विश्वरूप है। केवल अपना स्वरूप विस्मृत हो जानेके कारण मनुष्य अपनेको विश्वरूपमें पहचान नहीं सकता। मनुष्य केवल विश्वरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्वसे भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वातीत विशुद्ध प्रकाशस्वरूप भी है—एक ही साथ दोनों है। इस कारण पूर्णत्वकी अभिव्यक्ति मनुष्यमें ही सम्भव है। पशु-पक्षीकी देहमें जैसे पूर्णत्वका अभिज्ञान नहीं होता, वैसे ही देव-देहमें भी नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकारकी देह भोग-देहके अन्तर्गत हैं। कुण्डलिनी-शक्ति निद्रित रहनेपर भी एकमात्र मनुष्य-देहमें ही जाग्रत् होती है। यहाँतक कि मनुष्य-देहमें ही उसका पूर्ण जागरण सम्भव है। देवताओंमें जो पुण्य कर्मके फलसे भोग और ऐश्वर्यमें प्रतिष्ठित हैं, वे अपूर्ण हैं। यहाँतक कि जो देवता कर्मके सम्बन्धके बिना भी आजान-देवताके रूपमें सृष्टिके आदिसे प्रतिष्ठित हैं, वे भी विशेष अधिकारोंसे सम्पन्न होनेके कारण पूर्णत्वसे वञ्चित हैं। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड ऐश्वर्य, अखण्ड भावसे सब एकमात्र मनुष्य-देहमें ही, अवस्था-विशेषमें ही व्यक्त हो सकते हैं। मनुष्यके सिवा अन्य किसी योनिमें पूर्णत्वके मार्गपर आरूढ़ होना सम्भव नहीं है। इसीसे शास्त्र कहते हैं कि देवगण भी मनुष्य-शरीरकी स्तुति किया करते हैं।

पूर्ण ज्ञानको समझनेके लिये अज्ञानके स्वरूपको समझना आवश्यक है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसके उस स्वरूपको ठीक-ठीक जाननेका नाम ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा यदि अपनेको आत्माके रूपमें पहचान सके अर्थात् यदि उसकी निज-स्वरूपमें अहं-प्रतीति उत्पन्न हो जाय तो उसीको यथार्थ आत्मज्ञान समझना चाहिये। अतएव आत्मामें अनात्मबोध होना अथवा अनात्मामें आत्मबोध अर्थात् अनात्माको आत्मा समझना—दोनों ही अज्ञान-पदवाच्य हैं। पूर्ण अहंभाव केवल परमात्मा या परमेश्वरमें ही सम्भव है। जबतक आत्मा मायासे आच्छन्न है, तबतक वह अनात्मा-को आत्माके रूपमें ग्रहण करनेके लिये बाध्य होता है। सर्व-प्रथम वह इस स्थूल देहको ही अपना स्वरूप समझता है और इसीमें उसका 'मैंपन' निहित रहता है। इसके बाद स्थूल देहसे 'मैं-पन'का बोध दूर हो जानेपर भी प्राण और बुद्धिमें अर्थात् सूक्ष्म सत्तामें 'मैं-पन'का बोध रह जाता है। इसको दूर करनेमें बहुत समय लगता है। उसके बाद प्राण और बुद्धिके परे शून्यमें उसका—'मैं-पन'का बोध निमग्न हो जाता है। इसी प्रकार क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे होते हुए जीव निरन्तर घूमता फिरता रहता है। इसके फलस्वरूप उसका शून्य-भेद अथवा सुषुप्ति-भेद घटित नहीं होता और वह मायाके बाहर अपने स्वरूपको उपलब्ध नहीं कर पाता। यही सांसारिक अवस्थाका संक्षिप्त विवरण है; परंतु जब विवेक-ज्ञानका उदय होता है, तब आत्मा समझ पाता है कि वह मायासे भिन्न और मायाके कार्यभूत त्रिविध देहसे भी भिन्न है, मायिक सत्ता जड है, परंतु वह शुद्ध चेतन है। इस अवस्थामें स्थित होनेपर जीवरूप आत्मा कर्म और माया—दोनोंसे मुक्त हो जाता है और कैवल्यदशाको प्राप्त होता है; साधारण दृष्टिसे यह भी मुक्त अवस्था है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु यह पूर्ण मुक्ति नहीं है; क्योंकि अनात्मामें आत्मबोधरूप अज्ञान निवृत्त हो जानेपर भी शुद्ध अज्ञान अब भी रह ही जाता है। कैवल्यको प्राप्त आत्मा कर्मसंस्कारके अभाववश संसार-चक्रमें तो नहीं पड़ता, परंतु पूर्ण भागवत-जीवनका अधिकारी नहीं होता। उस समय ज्ञानका विकास होनेपर भी वह यथार्थ दिव्य ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उस समय क्रियाशक्तिका विकास नहीं होता।

वस्तुतः पूर्ण चैतन्यस्वरूपमें ज्ञान और क्रिया अभिन्न होते हैं। अतएव महामायाके उल्लासरूप शुद्ध अज्ञानकी निवृत्ति जबतक नहीं होती, तबतक जीव कैवल्यरूप मुक्तिको प्राप्त होकर भी दिव्य जीवनके मार्गमें पदार्पण नहीं कर सकता। सद्गुरुकी कृपाके बिना पूर्णत्वका पथ उन्मुक्त नहीं होता। गुरुकी कृपासे जब वह मार्ग प्राप्त हो जाता है,

तब जीवका जीवभाव अर्थात् प्राकृत-भाव कट जाता है तथा दिव्य और अप्राकृत-भावका उदय होता है। उस समय क्रमशः चैतन्यशक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। अनात्मामें आत्मभाव कट जानेपर भी अबतक आत्मामें अनात्मभाव नहीं कटा था। दिव्य ज्ञानके उदय और विकासके साथ-साथ आत्मामें अनात्म-भाव-रूप शुद्ध अज्ञान कटना प्रारम्भ हो जाता है। यह अज्ञान जब पूर्णतया उच्छिन्न हो जाता है, तब जीव अपनेको पूर्ण और परमात्मरूपमें उपलब्ध करता है। उस समय बोधक्षेत्रमें अनात्मभाव बिलकुल ही नहीं रह जाता। यह शुद्ध आत्मा 'सोऽहम्' रूपमें अपना पूर्ण अनुभव करता है। यही चित्-शक्तिकी पूर्ण अभिव्यक्ति है तथा परमात्माके साथ जीवात्माके अभेदकी प्रतिष्ठा है।

इस अवस्थाके आनन्दको मानवी भाषामें व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह स्थिति प्राप्त करनेके बाद केवल निरन्तर आत्मस्वरूपका ही अविच्छिन्न अनुभव जाग्रत् रहता है। उस समय विश्व अथवा जगत्‌की स्मृति या अनुभव उसको नहीं होता। यही पूर्ण ब्राह्मी स्थिति है; परंतु इसके परे भी एक अवस्था है। वह अवस्था निश्चय ही सबके लिये नहीं है। किसी-किसी विशिष्ट पुरुषको उस अवस्थाकी प्राप्ति होती है, सबको नहीं। उस अवस्थामें जगत्‌का बोध फिर लौट आता है, परंतु यह पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थितिकी प्रतिकूल अवस्था नहीं है; क्योंकि ब्राह्मी स्थितिकी अखण्ड अनुभूति कभी लुप्त होनेवाली नहीं।

ब्राह्मी स्थितिकी अवस्था और उसके बाद आनेवाली अवस्थाके बीच एक सामान्य भेद है। ब्राह्मी स्थितिके पूर्वकी अवस्थामें जैसे केवल जीवभाव रहता है, उस समय ब्रह्म-भावका स्फुरण नहीं होता, उसी प्रकार ब्राह्मी स्थितिमें ब्रह्मभावना जब होती है, तब जीवभावका भी स्फुरण नहीं होता; परंतु तृतीय अवस्थामें परिनिष्ठित ब्रह्मभावके भीतर ही जीव और जगत्‌की अनुभूति यथावत् लौट आती है। इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थितिके भीतर ही एक अभूतपूर्व उल्लास लक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण आनन्द महती करुणाके रूपमें प्रकट होता है। जीव-अवस्थामें समस्त विश्व दुःखमय होता है, यथार्थ आनन्दका आभास वहाँ जाग्रत् नहीं होता। जो आनन्द छायाके रूपमें वहाँ उपलब्ध होता है, वह दुःखका ही एक भेदमात्र होता है; परंतु ब्रह्मा-वस्थामें समस्त दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति एक साथ ही होती है। इस अवस्थामें दुःखकी अनुभूति भी नहीं रहती, जीवकी अनुभूति भी नहीं रहती एवं जगत्‌की अनुभूति भी नहीं रहती। सर्वत्र अपना ही स्वरूप दिखता है तथा अविच्छिन्न-स्वरूपमें आनन्दके सिवा और कुछ लक्षित नहीं होता। यही वस्तुतः स्वरूपस्थितिका विवरण है; परंतु यह श्रीभगवान्‌के साथ 'जीवात्माका' साम्य है, यह भी परिपूर्ण अवस्था नहीं है। जो अखण्ड सत्ता योगीका परम लक्ष्य है, वह सम्यक् प्रकारसे अब भी अधिगत नहीं होती; क्योंकि एकमुक्ति और सर्वमुक्तिके अभिन्न-रूपमें प्रकाशित होनेका अभी अवसर ही नहीं आया। तृतीय अवस्थामें द्वितीय अवस्थाकी पूर्णताके भीतर ही प्रथम अवस्थाकी वेदना प्रतिभासित हो उठती है। उस समय जीव और जगत् तथा अनन्त दुःख अखण्ड पूर्ण आनन्दके भीतर फूट पड़ता है। जो समाधिके आवरणमें दबा हुआ था, वह अवसर पाकर अपनेको प्रकट करता है। इसके फल-स्वरूप दुःखके सांनिध्यके कारण पूर्ववर्णित आनन्द करुणाका रूप धारण करता है। जिसमें इस करुणाशक्तिका जितना ही अधिक उद्रेक होता है, वह उतना ही अधिक परिपूर्ण स्थिति प्राप्त करनेकी योग्यतासे सम्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था ही सद्गुरुकी अवस्था है। वे नित्यमुक्त पूर्ण ब्रह्मस्वरूप होकर भी एक प्रकारसे प्रत्येक जीवके दुःखके स्पर्शसे करुणार्द्र-हृदय होते हैं। दुर्गासप्तशतीमें श्रीजगदम्बाको 'सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता' कहा गया है। संतान-वात्सल्य-मूलक जो आनन्दमयी माँकी आर्द्रचित्तता है, वही महती करुणाका निदर्शन है। स्वयं आनन्दमें प्रतिष्ठित होकर भी जबतक दूसरेको उसी प्रकारके आनन्दमें प्रतिष्ठित नहीं किया जाता, तबतक यह कहना नहीं बनता कि जीवनका यथार्थ महत्त्व सम्पन्न हो गया; परंतु यह बात सबके लिये नहीं है। किसी-किसी भाग्यवान्‌के लिये है। इसी कारण एक ओर अनवच्छिन्न परमानन्द होते हुए भी दूसरी ओर अशेष करुणाका स्थान रहता है। कहना नहीं होगा कि परमानन्दकी भित्तिमें यह परम रसका उल्लास है। यह रस अनन्त प्रकारका हो सकता है अथवा शास्त्रनिर्दिष्ट नौ प्रकारका भी हो सकता है; परंतु यहाँ जिस दृष्टिकोणसे विचार किया जा रहा है, उसके अनुसार इसको करुण-रसके नामसे पुकारना ही ठीक है। इसी कारण महाकवि भवभूतिने कहा है—'एको रसः करुण एव'।

यह जिस स्थितिकी बात कही गयी है, वही सद्गुरुकी

स्थिति है। दूसरेके दुःखसे दुःखित हुए बिना करुणाका उदय नहीं होता और करुणाके बिना दूसरेका दुःख भी दूर नहीं किया जाता। जबतक दूसरा है, तबतक उसका दुःख भी है तथा उसको निवृत्त करनेका प्रयोजन भी है और उसकी निवृत्ति आवश्यक है। अतः गुरुभावका योग भी स्वाभाविक है, किंतु पूर्वोक्त द्वितीय अवस्थामें यह अन्यबोध तथा अन्यका दुःख-बोध नहीं रहता। अतः उसका अस्तित्व भी उस समय कल्पित होनेकी सम्भावना नहीं होती, परंतु समाधि या समावेश दशाके कट जानेपर अपनी पूर्णतानुभूतिके भीतर ही यह अन्य या पर-बोध व्युत्थितके हृदयमें जाग उठता है। उस समय करुणाका उद्रेक होता है। यही जीवन्मुक्त सद्गुरुकी दशा है। जो जिस परिमाणमें श्रीभगवान्के अनुग्रह-वितरणरूप इस महायज्ञमें भाग ले सकते हैं, उनको उतना ही सौभाग्यवान् समझना चाहिये। जिनकी करुणाका प्रसार-क्षेत्र जितना अधिक होता है, श्रीभगवान्के साथ उनका तादात्म्य भी उतना ही गम्भीर होता है।

एक प्रकारसे मुक्त पुरुष श्रीभगवान्के साथ अभेदमें प्रतिष्ठित होनेपर भी दूसरी ओर देहावस्थामें किंचित् भेद-विशिष्ट होनेके कारण करुणाके अधिकारके सम्बन्धमें भी तारतम्य-विशिष्ट होते हैं। अपने स्वगत भावको जो परम स्वरूपमें विसर्जित कर सकता है, उसका कर्मक्षेत्र असीम हो जाता है। नहीं तो जिसका क्षेत्र जिस परिमाणमें होता है, उसे उसी परिमाणमें अनुग्रहशक्ति अथवा महती करुणाका विस्तार करके अवसर ग्रहण करना पड़ता है।

मनुष्य-शरीरका गुरुत्व इतना अधिक है कि वह विश्व-गुरुके साथ अभिन्न होकर जबतक इच्छा हो, तबतक सिद्ध स्वरूपमें विश्वगुरुके प्रतिनिधि अथवा परिवारके रूपमें जगत्के सेवाकार्य या जीवके उद्धार-कार्यमें अपनेको नियुक्त रख सकता है। कहना नहीं होगा कि यह सब महामायाकी नित्य-लीलाके अन्तर्गत है। अतएव मनुष्य-देहका गौरव केवल ब्रह्मको प्रत्यक्ष जाननेमें नहीं है, केवल ब्रह्मानन्दका स्वयं भोग करनेमें नहीं है, अपितु निर्विशेषरूप ब्रह्मानन्दको सबमें वितरण करनेका अधिकार प्राप्त करनेमें है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देवताओंको भी यह अधिकार नहीं है, यहाँतक कि साधारण मुक्त पुरुषको भी नहीं है। इस अधिकारकी प्राप्ति जबतक पूर्ण नहीं होती (अवश्य ही अपनी ओरसे) तबतक आत्मा परमात्माके साथ अभिन्न होकर भी कुछ भेदयुक्त रहता है। यह अवस्था दीर्घकालतक रह सकती है और क्षणमात्रमें ही विलीन हो जा सकती है। सब कुछ स्वेच्छाधीन है। उससे स्वरूपकी हीनता या क्षुद्रता नहीं होती।

अतएव 'महापुरुषका संश्रय' भी मानव-देहकी महिमा-का सम्यक् परिचय नहीं है। महापुरुष-पदमें स्वयं प्रतिष्ठित होना भी मानव-देहमें ही सम्भव है।

(भारतीय संस्कृति और साधनासे साभार)

महामानव

'आप··· आप यह क्या कर रहे हैं ? मुझ पतितका स्पर्श न करें प्रभो !' उसके सर्वाङ्गमें कुष्ठ था—गलित कुष्ठ। उसने जब दोनों बाहु फैलाकर गौराङ्ग महाप्रभुको अपनी ओर बढ़ते देखा, तब वह व्याकुल होकर पीछे हटने लगा।

महाप्रभु पुरीसे दक्षिण भारतकी यात्रापर गये हुए थे। उन्होंने भगवन्नामका कीर्तन सुना—स्वरमें माधुर्य था, प्रेम था और वेदना थी। श्रीचैतन्यदेव प्रेमोन्मत्त बढ़े उसे आलिङ्गन देने।

'महाभाग ! आपके स्पर्शसे मैं पवित्र बनूँगा। प्रेमपूर्वक भगवन्नाम लेनेवाला त्रिभुवनको पवित्र करता है।' कहते हुए महाप्रभुने उस कुष्ठीको—पीब, सड़ाँध-भरे शरीरके घावोंसे आकुल कुष्ठीको बलपूर्वक भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया।

कुष्ठी तत्काल स्वस्थकाय हो गया तो आश्चर्य क्या ! श्रीचैतन्यदेवकी महामानवता—लोकोत्तर श्रद्धा—उसकी शक्तिकी कोई सीमा हो सकती है ?

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य और उनका आदर्श मधुर चरित्र

(श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीके अवसरपर दिये गये नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके एक प्रवचनसे)

अंशांशकांशककलाद्यवतारवृन्दै-
रावेशपूर्णसहितैश्च परस्य यस्य ।
सर्गोदयः किल भवन्ति तमेव कृष्णं
पूर्णात् परं तु परिपूर्णतमं नताः स्मः ॥

'जिस परम पुरुषके अंश, अंशांश, कला, आवेश और पूर्ण आदि अवतारोंसे सृष्टि-संहारादि लीलाकार्य सम्पन्न होते हैं, उन पूर्णसे भी परे परिपूर्णतम श्रीकृष्णको हम नमस्कार करते हैं।'

अवतारका स्वरूप और कारण

वैवस्वत-मन्वन्तरीय अट्ठाईसवें चतुर्युगीके द्वापरके अन्तमें भाद्रमासकी मङ्गलमयी कृष्णाष्टमीके दिन इस पृथ्वी-मण्डलको भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यका परम सौभाग्य मिला था । यह स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका समग्र-रूपमें पृथ्वीपर अवतरण है । भगवान्के स्वरूप-तत्त्वकी महिमा और व्याख्या न तो आजतक कोई कर सका है, न आगे कोई कर ही सकेगा । स्वयं भगवान्के और भगवत्प्रेमी महानुभावोंके सांकेतिक शब्दोंके आधारपर उनकी सहज करुणामयी प्रेरणासे ही अपने जीवनको धन्य करनेके लिये भगवान्के महत्तत्त्वका किंचित् स्मरण कर लिया जाता है । भगवान् नित्य-सत्य-सच्चिदानन्दघन-मङ्गल-विग्रह हैं, नित्यसर्वातीत और सर्वमय हैं, सर्वगुणातीत और अचिन्त्यानन्त-सद्गुण-स्वरूप हैं । उनके अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य नित्य नवायमान हैं । वे नित्य अजन्मा रहते हुए ही जन्म-लीला करते हैं, नित्य अविनाशी होते हुए ही अन्तर्धान होते हैं और नित्य सर्वभूतमहेश्वर होते हुए ही छोटे-से (पराधीन) शिशु बनकर मधुर लीला करते हैं । इसी अपने अचिन्त्यानन्त-युगपद्-विरुद्धधर्माश्रयी स्वरूपका संकेत भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें किया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(४ । ६)

'मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और समस्त भूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्)में अधिष्ठित रहकर अपनी माया (आत्ममायया)से प्रकट होता हूँ ।'

भगवान्की तीन प्रकृतियाँ हैं—(१) जगद्रूप अष्टधा 'अपरा प्रकृति,' (२) जीवभूत चेतन 'परा प्रकृति', जो अखिल जगत्को धारण करती है, (३) 'अपनी प्रकृति', जिसमें भगवान् लीलाके समय अधिष्ठित रहते हैं । यह अन्तरङ्गा, विशुद्ध भगवन्मयी है । इसी प्रकारसे भगवान्की मायाके भी अनेक रूप हैं; पर जिस मायासे भगवान् स्वयं लीला-सम्पादन करते हैं, वह माया भगवान्की निजी माया है । इसीका नाम 'योगमाया' अथवा भगवान्की 'स्वरूपभूता लीला' है । वे जबतक अपनी विशेष लीला करते हैं, तबतक इसी योगमायाका अवलम्बन करते हैं । रासलीलाके प्रारम्भमें भी इसी योगमायाका समाश्रयण किया गया था—'योगमायामुपाश्रितः' । इसी योगमायासे वे अपनेको छिपाये भी रहते हैं—'योगमायासमावृतः' (गीता ७ । २५) ।

जीवोंकी भाँति भगवान्की दिव्य देह न तो पाञ्चभौतिक होती है, न कर्मजनित ही । वह स्वेच्छामय विशुद्ध भगवद्रूप होती है । इसी विशुद्ध भगवद्रूपमें आजकी महामहिमामयी अष्टमी तिथिको भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य हुआ था । भगवान्ने अपने अवतारके तीन प्रधान हेतु बतलाये हैं—साधुओंका परित्राण, दुष्कृतियोंका विनाश और धर्मका संस्थापन । स्वयंभगवान्के इस पूर्ण अवतारमें भगवदाकारके अन्यान्य अवतार-कारणोंका भी समावेश रहता है । इसीलिये पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका विनाश, उनके द्वारा संत्रस्त साधुओंका परित्राण और पापाचारियोंके द्वारा प्रचलित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन मानव-धर्मकी स्थापनाका मङ्गल कार्य भी इस अवतारद्वारा सुसम्पन्न हुआ है;

परंतु भगवान् अपने इस घनीभूत परम-प्रेमानन्द-रसरूप लीला-विग्रहद्वारा उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो भगवान्के मङ्गलमय प्रेम और परमानन्दमय दर्शनकी महती उत्कण्ठासे भयानक विरह-वेदनाका अनुभव करते हैं और जीवनका एक-एक पल इस भीषण विरहाग्निकी भयानक ज्वालामें विदग्ध होते हुए विताते हैं। इसी प्रकार उन दुष्टोंका, उन भाग्यवान् असुरोंकी असुर-देहोंका विनाश करके उन्हें सहज ही स्वधाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्के ही मङ्गलरूप कर-कमलोंद्वारा प्राण-त्याग करके भगवान्के दिव्य धाममें पहुँचनेके अधिकारी हो चुके हैं। धर्मकी स्थापनासे काम-कलुषित विषय-सेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानको ध्वंसकर भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज त्यागसे सम्पन्न हुए परम उत्कृष्ट, परम मधुरतम, विशुद्ध प्रेम-धर्मके संस्थापनकी ओर स्पष्ट संकेत है। अतएव लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, ज्ञान-प्रेम—सभी क्षेत्रोंमें अयुक्त आसुरी भोग-भावोंका उन्मूलन करके परमोच्च विशुद्ध दैवीभावोंकी स्थापना सहज ही स्वयंभगवान्के इस प्राकट्यद्वारा सुसम्पन्न होती है।

भगवान्का प्राकट्य कंसके कारागारमें अर्धरात्रिके समय होता है। उस समय दसों दिशाओंसहित आकाश निर्मल हो जाता है। नक्षत्रराशि विचित्र रूपसे झलमलाने लगती है। समस्त भू-मण्डल प्रसन्न हो उठता है। नद-नदियाँ, समुद्र-सरोवर सहज ही स्वच्छ हो जाते हैं। अर्धरात्रिके समय ही नदियों और सरोवरोंमें सर्वत्र शतदल और सहस्रदल पद्म प्रस्फुटित हो उठते हैं। उनकी मधुर सुगन्ध वायुके स्पर्शसे सर्वत्र फैल जाती है। इधर-उधर पराग बिखर जाती है और भ्रमरोंके समुदाय असंख्य रूपमें आ-आकर मधुपान और मधुर गुंजारमें प्रवृत्त हो जाते हैं। मयूर महानन्दमें नृत्य करने लगते हैं। शीतल-मन्द-सुगन्ध मलयपवन प्रवाहित होने लगता है। जनपद-समूह समृद्ध हो जाते हैं। ग्राम-नगर—सभी मङ्गल-निकेतन बन जाते हैं और देवता-ब्राह्मण, गिरि-समूह और गो-समुदाय सुख-समृद्ध हो जाते हैं। स्वर्गमें अकस्मात् तुमुल जय-ध्वनिके साथ देव-दुन्दुभि बज उठती है। विद्याधर, गन्धर्व, सिद्ध, किंनर और चारण मधुर गान करने लगते हैं। देवताओंके स्तुतिवाक्योंसे दिग्दिगन्त गूँज उठता है। दिव्य गन्धर्व और विद्याधरगण नाच उठते हैं और देवतागण पारिजात, मन्दार, मालती आदि उत्तम सुगन्धमय सुमनोंकी वर्षा करने लगते हैं। सजल मेघ मन्द-मन्द गर्जन करते हुए स्तव-गान करते हैं। इस प्रकार समस्त विश्व—चराचर अपने प्रभुके मङ्गल स्वागतमें अपनेको सजाकर धन्य हो जाते हैं। ऐसे शुभ कालमें भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीकी अर्धरात्रिके समय रोहिणी नक्षत्रके हर्षण योगमें अरणिसे यज्ञाग्निके सदृश वसुदेवके यहाँ देवकीसे साक्षात् भगवान् हरि आविर्भूत होते हैं। श्रीमद्भागवतके प्रसङ्गके वर्णनका सार है—

कंस तमोमयका था काला पापचिह्न वह कारागार।
कालकोठरी थी, उसमें नियुक्त थे काले पहरेदार॥
भाद्रमासके कृष्णपक्षकी अँधियारी अष्टमि बुधवार।
काली अर्धनिशा थी, छाया अन्धकार था घोर अपार॥
अज-अविनाशी सर्वेश्वर प्रभु लेंगे अब मङ्गल अवतार।
अधिष्ठान कर प्रकृति निजामें, करके निज-माया-विस्तार॥
उसी समय छा गया कक्षमें सहसा शीतल दिव्य प्रकाश।
बदल गया सब कुछ क्षणमें ही, करने लगी प्रकृति मृदु हास॥
काल हो गया परम सुशोभन, सभी शुभ गुणोंसे संयुक्त।
शशि रोहिणिस्थित, थे सब नभमें ग्रह-नक्षत्र शान्तिसे युक्त॥
निर्मल हुईं दिशाएँ, तारे लगे जगमगाने आकाश।
नदियाँ हुईं स्वच्छसलिला, ह्रद हुआ रात्रिमें कमल-विकास॥
लदे वृक्ष कुसुमोंसे, पक्षी-भ्रमर कर उठे गान-गुंजार।
बहने लगी सर्व-सुख-दायिनि शुचितम सौरभमयी बयार॥
असुरद्रुह-सज्जन-मन सहसा हुए प्रसन्न सहज स्वच्छन्द।
स्वर्ग बज उठीं देव-दुन्दुभीं जन्म अजन्माके आनन्द॥
बिना बजाये हुई निनादित मध्यनिशा वे अपने-आप।
किंनरगण-गन्धर्व मुदित हो करने लगे गान-आलाप॥
विद्याधरी-अप्सरा सहसा नाच उठीं अति सुमधुर ताल।
सुर-मुनि मुदित कर उठे श्लाघा, देख धराका भाग्य विशाल॥
जलनिधि-जलधर मन्द मधुर स्वर गाने लगे स्व-सुखका गान।
हुए प्रकट देवी देवकिसे सुन्दर मधुर स्वयं-भगवान॥

उदय हुए वैसे ही, जैसे षोडशकला-पूर्ण राकेश—।
उगता प्राचीमें, न रह गया संतोंको तम-पीड़ा-लेश ॥
कालोंको जो उज्ज्वल करता, ले वह अद्भुत काला रंग।
देख सामने पुरुषोत्तमको स्वयं रह गये दम्पति दंग ॥
कोमल, कमल-समान नेत्र हैं मुनि-मन-मोहन, दीर्घ, रसाल।
शङ्ख-गदा शुचि पद्म-चक्रसे शोभित चारों भुजा विशाल ॥
वक्षःस्थलपर शोभित है श्रीवत्स-चिह्न अतिशय अभिराम।
गले सुशोभित कौस्तुभमणिकी छिटक रही है विभा ललाम ॥
नव-नीरद-घनश्याम कलेवर चमक रहा है शुचि रमणीय।
दमक रहा है सुन्दर तनपर दिव्य पीतपट अति कमनीय ॥
मणिवैदूर्य अमूल्य विनिर्मित हैं किरीट, कुण्डल द्युतिमान।
कुञ्चित कुन्तल चमक रहे हैं उनसे दिनकर-किरण-समान ॥
कटिमें है करधनी सुशोभित दिव्य-रत्नमय, सुषमागार।
बाँहोंमें अङ्गद शोभित हैं, हाथोंमें कङ्कण श्री-सार ॥
अङ्ग-अङ्ग आभरण-विभूषित, दीप्ति छा रही चारों ओर।
देख रूप वसुदेव-देवकी हुए अतुल आनन्द विभोर ॥

भगवान्‌के इस अपूर्व माधुर्य-सौन्दर्यमय स्वरूपका दर्शन करके वसुदेव-देवकी सफल-जीवन हो गये। उनके आनन्दका पार नहीं रहा। वसुदेवजीने भगवान्‌का स्तवन किया। भगवान्‌ने पूर्वजन्मकी बातें बतलायीं। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत शिशुरूप हो गये। वसुदेवजी उन्हें सूपमें लेकर नन्दालयमें पहुँचे तथा बदलेमें योगमायाको ले आये। भगवान्‌की विचित्र मायाके प्रभावसे सभी स्थानोंके सभी लोग निद्राभिभूत हो गये, इसलिये इस रहस्यको कोई न जान सका।

इसके बादकी श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, हरिवंशपुराण, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थोंमें विशदरूपमें आ चुका है। उसे जितना पढ़ा-समझा जाय, हृदयंगम किया जाय, उतना ही परम मङ्गल है।

श्रीभगवान्‌के लीला-चरित्रसे शिक्षा तथा कर्तव्य

श्रीभगवान्‌के सभी गुण परम आदर्श हैं। निष्काम कर्मका जो ज्वलन्त उदाहरण भगवान् श्रीकृष्णने अपनी लीलामें सबके सामने रखा है, वह अद्वितीय है। राग-द्वेषरहित होकर धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना, हजारों अधर्मी नरेशोंका विनाश करके उनके स्थानपर उन्हींके वंशजोंको स्थापित कर देना, असंख्य-राज्य-निर्माता होकर भी किसी राज्यको स्वीकार न करके सबको समान भावसे प्रेम-दान देते हुए भी अन्यायका समर्थन न करके सबको अधर्मका नाश करनेकी प्रेरणा देना और संसारका सारा कार्य नाटकके रङ्गमञ्चपर सुनिपुण अभिनेताकी भाँति सम्पन्न करते हुए ममता, आसक्ति, आशा, कामनासे सर्वथा दूर रहकर प्रत्येक कार्यको भगवान्‌की मङ्गलपूजाके रूपमें परिणत कर देनेका सरल सहज साधन स्वयं आचरण करके जगत्‌के सामने रखना भगवान् श्रीकृष्णके लीलाचरित्रकी विशेषता है।

भगवान्‌का वृन्दावनीय बाल-चरित्र तो परम मधुरतम वात्सल्य, सख्य और माधुर्यकी पवित्र लीलाओंसे परिपूर्ण है। कहीं भी, किसी भी देशके इतिहासमें, किसी भी साहित्यकी सृष्टिमें, किसी भी काव्यके कल्पना-काननमें, सर्वथा ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी, यह अपनी कोई समता नहीं रखता। जिस किसीने इस परम मधुर लीला-सुधा-समुद्रमें अवगाहन किया, वही परम धन्य हो गया। अनेकों बड़े-बड़े परमहंस ऋषि-मुनि-महात्मा, अद्वैत-तत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मस्वरूप महापुरुष एवं तत्त्वज्ञ योगी इस परम अगाध रस-समुद्रमें सर्वथा डूबकर धन्य हो चुके हैं। आज भी भगवान् श्रीकृष्णका लीला-मधुर-रस-समुद्र उसी भाँति लहरा रहा है। उसमें कूदनेका साहस उसीको करना चाहिये, जो सारी भोग-मोक्षकी आकाङ्क्षाओंसे सर्वथा शून्य हो चुका हो।

यों भगवान्‌के आदर्श दिव्य कर्मयोगका, उनके द्वारा आचरित महती जीवनचर्याका, उनके उपदेशों और शिक्षाओंका आदर्श ग्रहणकर यथायोग्य उन्हें अपने जीवनमें उतारकर सभी धन्य हो सकते हैं और सभीको होना चाहिये।

आगन्तुक

[कहानी]

(लेखक—श्रीइन्द्रचन्द्रजी अग्रवाल)

ठण्डी सुनसान अँधेरी रात। लगभग ग्यारह बजे होंगे। नगरसे दूर निर्जन स्थानके एक कच्चे-से मकानमें एक गरीब विधवा अपने बीमार बच्चेकी व्याधि-निवृत्तिके लिये भगवान्‌से कातर प्रार्थना कर रही थी।

चार-पाँच वर्षका बच्चा उग्र ज्वरसे तप रहा था, उसका बदन आगकी तरह जल रहा था। बेहोशीके कारण बच्चेकी आँखें मुँदी जा रही थीं। उसके बचनेकी कोई आशा न थी। विधवा असहाय-सी रो रही थी। रह-रहकर वह अपने सुन्दर बच्चेके ललाटको चूम लेती। उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। अचानक हवाके तेज झोंकेसे कोनेमें रखा दीपक बड़ी तेजीसे टिमटिमाने लगा।

रह-रहकर गरीब और असहाय विधवाका करुण-स्वर सामनेकी चौकीपर रखी भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके सामने फूट पड़ता—'कन्हैया! हे यशोदाके लाल! मेरे बेटेको बचा लो।' विनती करते-करते उसे रुलाई आ जाती और वह मूर्तिके चरणोंपर सिर रखे फूट-फूटकर रोने लगती।

उसने उठकर अपने बेटेके मस्तकपर हाथ रखा, उससे मानो धधकती आग निकल रही थी। फिर उसने अपना कान बेटेके हृदयपर लगाया, वहाँ मानो जीवन-मृत्युका संघर्ष हो रहा था। जीवनकी अन्तिम साँसें चल रही थीं।

विधवा पागल-सी होती जा रही थी। वह अपने बालोंको नोचती हुई, करुण-स्वरसे चीख उठी—'मेरे भगवन्! मेरे बेटेको बचा लो। हे नाथ! इसे जीवन-दान दे दो।'

विधवाने फिरसे अपना कान बेटेकी छातीपर लगाया तो भान हुआ कि साँसें घट रही थीं—एक-एक करके। सहसा उसका स्वर कठोर हो गया—'मैंने जीवनभर तुम्हारी पूजा की, सारी आयु तुम्हारी चाकरी करती रही; तुम कैसे निष्ठुर हो, मेरे बेटेको कुछ हो गया तो····!'

सहसा यही कठोर मुद्रा दयाकी भीख माँगने लगती—'भगवन्! मेरे एकमात्र सहारेको न छीनो, इसे बचा लो!'

तदनन्तर विधवा उस मूर्तिकी ओर बड़े ध्यानसे देखने लगी। मूर्ति पूर्ववत् हाथमें बाँसुरी लिये मुस्करा रही थी।

अचानक कहीं दूर बड़े जोरसे बिजली कड़की और घनघोर बरसात होने लगी। दूरसे किसी कुत्तेके रोनेका शब्द सुनायी पड़ा। विधवा भावी आशङ्कासे काँप उठी। उसने अपने बेटेको छातीसे चिपका लिया।

तेज हवाके कारण दीपक बुझते-बुझते ही रह गया था कि सहसा किसीने घरका दरवाजा खटखटाया।

रोते-रोते विधवाकी आँखें सूज आयी थीं। उसने अन्तिम साँसें गिन रहे बेटेको नीचे लिटाया, उसे कम्बलसे चारों ओरसे लपेट दिया और उठकर दरवाजा

खोला । एक चौदह-पंद्रह वर्षका बालक बरसातमें भीगता एवं ठण्डसे काँपता हुआ घरमें घुसा । उसका बदन पानीसे तर-बतर हो रहा था ।

विधवाने उसे घरके भीतर करके दरवाजा बंद कर लिया । ठण्डके कारण आगन्तुक बालक बुरी तरह काँप रहा था ।

विधवाने उस बालककी ओर देखा तो उसे उसका चेहरा सूर्यकी भाँति चमकता-सा दीख पड़ा, उसके काले घुँघराले केशोंसे पानी ओसकी चमकती बूँदोंकी भाँति चू रहा था । घनी-घनी पलकोंके बीच उसकी आँखें बहुत प्यारी लग रही थीं । ठण्डके कारण काँपते हुए भी उसके लाल-लाल होंठ मुस्करा रहे थे ।

आनन्द-विभोर विधवा उससे परिचय पूछना ही भूल गयी और बोली—'बेटे ! यहीं बैठो, मैं तुम्हारे लिये आग जलाकर लाती हूँ ।' जाते-जाते उसने अपने बेटेकी ओर आशाभरी दृष्टिसे देखा और 'कृष्ण कन्हैया ! मेरे लालको बचा लो ।' यह कहते हुए वह अंदरकी एक कोठरीमें घुस गयी ।

आगन्तुक बालक उठकर उस बेहोश बालकके निकट आया । चेहरेपरसे थोड़ा-सा कम्बल हटाकर उसने बालकके तपते चौड़े माथेको चूम लिया ।

ऐसा करते समय उसके घुँघराले केशोंसे पानीकी दो बूँदें बीमार बालककी बंद पलकोंपर गिरीं । सहसा एक बार फिर बड़े जोरसे बादल गरजा । बरसात अब हल्की पड़ चुकी थी । कोयलोंकी सिगड़ी जलाकर विधवा जैसे ही बाहर आयी, आश्चर्यके मारे उसकी आँखोंकी पुतलियाँ स्थिर हो गयीं । उसने आँखें मल-मल कर देखा । उसका ज्वरसे तपता, जीवनकी अन्तिम साँसें गिनता बच्चा बैठकर मुस्करा रहा था ।

'हे भगवन् !' कहते-कहते विधवाने दौड़कर अपने बच्चेको गलेसे लगा लिया, वह उसे बार-बार चूमने लगी ।

अचानक उसे उस काँपते हुए आगन्तुक बालकका ध्यान आया । उसे लगा, जैसे उसने कोई स्वप्न देखा हो । उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, किंतु वह बालक कहीं दीख न पड़ा । विधवाने उठकर वह स्थान भी देखा, जहाँ वह आगन्तुक बालक खड़ा था । भीगे वस्त्रोंके कारण पानी टपक-टपककर वह स्थान गीला हो गया था, पर अब वहाँ पानीका चिह्न भी न था ।

अन्ततोगत्वा उसके मुखसे निकल पड़ा—'हे भगवन् ! यह तुम्हारी कैसी लीला है !' उसने पीछे मुड़कर देखा । दीवारपर वही भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति हाथमें बाँसुरी लिये मुस्करा रही थी । उसके आश्चर्यकी सीमा न रही, बरबस उसकी आँखोंसे हर्षके आँसू टपकने लगे ।

'तो क्या स्वयं भगवान् मेरे लालको बचाने आये थे ?' उसने अपने एकलौते पुत्रकी ओर देखा, उसके रक्तिम ललाटपर दिव्य प्रकाश झलक रहा था—ठीक आगन्तुक बालककी तरह । वह आश्चर्यचकित हो कभी अपने बेटेको और कभी श्रीकृष्णकी मूर्तिको चूमने लगी ।

उसी क्षण उसे कहीं दूर बाँसुरीकी मधुर ध्वनि सुनायी दी, वह भाव-विभोर हो गयी, उसने अपने बेटेको छातीसे लगा लिया ।

दीपककी ज्योत्स्नासे पूरा घर नहा-सा रहा था ।

गीताका ज्ञानयोग—२१

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

(गताङ्क पृष्ठ ३०९ से आगे)

भगवान्‌ने तीसरे श्लोकमें क्षेत्रके विषयमें चार और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो अर्थात् जिन छः बातोंको कहनेका संकेत किया था, उनका विवेचन करके अब वे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषके विषयका उपसंहार करते हुए उसे तत्त्वसे जाननेके फलस्वरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका कथन करते हैं—

श्लोक—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

भावार्थ—

इस प्रकार जो महापुरुष परिवर्तनशील और प्रकाशित क्षेत्र एवं नित्य निर्विकार और अक्रिय रहनेवाले प्रकाशक क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदको विवेक-दृष्टिपूर्वक तत्त्वसे जानते हैं, वे परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।

अन्वय—

ये, एवम्, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, अन्तरम्, च, भूतप्रकृतिमोक्षम्, ज्ञानचक्षुषा, विदुः, ते, परम्, यान्ति ॥ ३४ ॥

पद-व्याख्या—

ये एवम् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरम्—जो पुरुष इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरको ।

क्षेत्र इदंतासे अर्थात् 'यह'-रूपसे जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड और अनित्य है तथा क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्रको जाननेवाला परिवर्तनरहित, अविनाशी, निर्विकार, चेतन, नित्य, अकर्ता, असङ्ग, शुद्ध और ज्ञानस्वरूप है ।

यह नियम है कि 'इदम्' (यह)को 'अहम्' (मैं) नहीं कहते और 'अहम्' (मैं)को 'इदम्' (यह) नहीं कह सकते। जाननेमें आनेके कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर 'इदम्' ही हैं, अतः स्थूल-शरीरकी जाग्रदवस्था, पदार्थ और क्रियाएँ; सूक्ष्म-शरीरकी स्वप्नावस्था, स्वप्नावस्थाके पदार्थ एवं क्रियाएँ तथा कारण-शरीरकी सुषुप्ति-अवस्था, स्थिरता, समाधि, मूर्च्छा—इन सबसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । इसके बाद एक देश, एक काल और एक वस्तुको लेकर जो एकदेशीयपनकी मान्यता अर्थात् 'मैं'पन है, उसका भी भान होता है, वह भी जाना जा सकनेके कारण 'इदम्' ही हुआ । 'इदम्' होनेसे वह भी शुद्धस्वरूप नहीं है; क्योंकि जिस प्रकाशके अन्तर्गत 'तू', 'यह' और 'वह' दिखायी देता है, उसी प्रकाशके अन्तर्गत 'मैं'रूपा यह एकदेशीया स्थिति भी दिखायी देती है, अतः यह वास्तविक स्वरूप नहीं हो सकता; किंतु जिस प्रकाशमें 'यह' अथवा 'मैं' दिखायी देता है, वह प्रकाश ही शुद्ध, वास्तविक स्वरूप है, वही परमात्मतत्त्व है एवं उसीसे सम्पूर्ण क्षेत्र प्रकाशित होते और सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं । साधककी भूल प्रायः यहीं होती है, वह इस जाननेमें आनेवाले 'अहम्'को ही अपना स्वरूप मान लेता है ।

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अन्तरको देखकर जिसका क्षेत्रके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, उसके अपने माने-जानेवाले अन्तःकरणमें अपने अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसार (क्षेत्र)का अभाव हो जाता है ।

जिस समष्टि संसारके अंशरूप शरीरको व्यष्टि बुद्धिसे अपना मान रखा था, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको तत्त्वसे जानते ही अर्थात् भेद जाननेवाली वृत्तिके शान्त होते ही साधकका उस शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । भगवान् इन पदोंसे इसी सम्बन्ध-विच्छेदको बता रहे हैं ।

च भूतप्रकृतिमोक्षम्—तथा कार्यसहित प्रकृतिका सर्वथा अभाव।

'प्रकृति' यहाँ मूल-प्रकृतिका वाचक है और आकाशादि पञ्चमहाभूत प्रकृतिके विकार हैं। प्रकृतिसे गुणोंकी तथा उन गुणोंसे सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। 'भूतप्रकृतिमोक्षम्' पदसे भगवान् यहाँ प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति, गुण, देह और सम्पूर्ण सृष्टिका अर्थात् कार्यसहित प्रकृतिका सर्वथा अभाव बतला रहे हैं।

यहाँ 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्य दृश्यवर्ग और 'प्रकृति' शब्द उसके कारणके वाचक हैं। कार्य और कारणसे छूटना ही भूत-प्रकृतिमोक्ष है।

ज्ञान-साधनामें देहाभिमान ही प्रधान बाधा है, इसे दूर करनेके लिये इसी (तेरहवें) अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्ने 'इदं शरीरम्' पदोंसे शरीर (क्षेत्र)से अपनी (क्षेत्रज्ञ-की) पृथक्ता अनुभव करनेके लिये कहा एवं दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्' पदोंसे अपने मतमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानको वास्तविक ज्ञान कहा। फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताका कई तरहसे वर्णन किया। अब उसी विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् अध्यायके अन्तमें कह रहे हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको पृथक्-पृथक् भली-भाँति जान लेनेके पश्चात् क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर परमात्मस्वरूपमें अभिन्नताके साथ स्थित हो जाना ही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जान लेना है अर्थात् साधकको यह पता लग जाता है कि यह अज्ञानवश ही क्षेत्रको सच्ची वस्तु और अपनेसे अभिन्नरूप समझ रहा था। सच्चिदानन्दघन परमात्मामें स्थित होना इस अज्ञानसे मुक्त हो जाना है।

शङ्का—जब स्वयं (क्षेत्रज्ञ) अचल है तो चल (प्रकृति)में फँस कैसे गया?

समाधान—'प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति' (१४। ५) और 'अवशः' (८। १९) आदि पदोंसे भगवान् बतलाते हैं कि जो भूतसमुदाय प्रकृतिके वशमें होता है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंद्वारा बँधता है, ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें वह मुझमें लीन होता है एवं दिनके प्रवेश-कालमें मैं फिर उसे उत्पन्न करता हूँ। तात्पर्य यह कि जैसे गङ्गाजीका जल नित्य-निरन्तर बहता रहता है, किंतु भूतल और घाट—दोनों स्थिर और अचल रहते हैं, वैसे ही प्रकृति एवं प्रकृतिका कार्य—भूतसमुदाय गङ्गाजीके जलकी तरह सदैव बहता (चला) जाता है और भूतलरूप परमात्मा एवं घाटरूप जीव स्थिर और अचल रहते हैं; किंतु अविवेकके कारण प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यरूप संसारके सम्बन्धमें सद्भावकर जीव स्वयं बँधा हुआ है (१४। ५)। 'सुखसङ्गेन,' 'ज्ञानसङ्गेन' (१४। ६) और 'कर्मसङ्गेन' (१४। ७) तथा 'प्रमादालस्यनिद्राभि-स्तन्निबध्नाति' (१४। ८) आदि पदोंसे भगवान्ने इसके बँधनेकी बात बतलायी है। प्रकृति तो अचल रहती नहीं, पर यह (जीव) जबतक उसमें राग रखता है, तबतक बँधा रहता है। जीवने ही राग किया है, इसलिये उसे हटानेकी जिम्मेवारी भी इसीपर है। रागके हटते ही यह कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जाता है।

ज्ञानचक्षुषा विदुः—विवेक-दृष्टिसे तत्त्वतः जानते हैं।

सामान्य ज्ञान (विवेक) उसका नाम है, जिसके द्वारा हम सब वस्तुओंको पृथक्-पृथक् रूपसे जानते हैं। स्थूल रीतिसे आचरणके अनुसार हम सद्गुण-सदाचार और दुर्गुण-दुराचार अर्थात् दैवी और आसुरी-सम्पत्तिको जानते हैं। फिर इनसे आगे इन्द्रियों और इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न ज्ञानको, फिर मन-बुद्धि एवं उनके कार्योंको, इनके आगे 'मैं' और 'मेरे'को भी जानते हैं, जैसे शरीरादिका स्वामी 'मैं' हूँ और 'बुद्धि' आदि मेरी वस्तुएँ हैं। एक सामान्य प्रकाशमें 'ये', 'मैं', 'मेरापन' भी ज्ञान-चक्षुसे जाने जाते हैं। इस पदकी सार्थकता

जड-चेतनका विवेक अर्थात् वास्तविक ज्ञान करानेमें ही है।

गीतामें तीन प्रकारके चक्षुओंका वर्णन हुआ है— (१) स्वचक्षु (११ । ८), (२) दिव्यचक्षु (११ । ८), (३) ज्ञानचक्षु (१५ । १०)। प्रकृतिके कार्य स्वचक्षुसे संसार पाञ्चभौतिक पदार्थोंके रूपमें स्थूलतासे दिखायी देता है। इसलिये इन (स्वचक्षुओं)के द्वारा प्रकृतिसे अतीत परमात्माको नहीं जाना (देखा) जा सकता। इसी कारण 'न तु मां शक्यसे···स्वचक्षुषा' (११ । ८) पदोंसे भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मुझको तुम अपने प्राकृतिक नेत्रों अर्थात् चर्म-चक्षुओंसे देखनेमें समर्थ नहीं हो। दिव्य-चक्षुसे सगुण-साकार भगवान्‌के दर्शन होते हैं। भगवान्‌ने अपने विराट्‌रूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनको इन्हीं दिव्य-चक्षुओंका दान किया था—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (११ । ८)। ज्ञान-चक्षुसे सगुण-निराकार और निर्गुण ब्रह्मको तत्त्वतः जाना जाता है। पंद्रहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषः' पद और इस श्लोकमें यह पद भगवान्‌के निर्गुण ब्रह्म-स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये आया है।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, जो वास्तवमें अलग-अलग ही हैं, केवल अविवेकके कारण ही ठीक तरहसे जाननेमें नहीं आते। जाननेमें न आनेका मुख्य कारण 'राग' है। यह नियम है कि जहाँ राग होता है, वहाँ दोष नहीं दीखता और जहाँ द्वेष होता है, वहाँ गुण नहीं दीखता। यही कारण है कि प्रकृतिके कार्य क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारमें राग होनेके कारण उसमें दोष नहीं दीखते एवं अविनाशी नित्य-स्वरूप परमात्मामें गुण नहीं दिखलायी देते। साधक जब सांसारिक रागको छोड़ देता है, तभी वह उसे तत्त्वसे जानता है।

ते परम् यान्ति—वे महापुरुष परमपद (परब्रह्म परमात्मा)को प्राप्त होते हैं।

इन पदोंमें भगवान् भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका फल अर्थात् कार्यसहित प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदका फल परमपदकी प्राप्ति बतलाते हैं। क्षेत्रको तत्त्वसे जान लेनेपर फिर क्षेत्रमें सत्यता नहीं दीखती अर्थात् क्षेत्रका स्वतन्त्र सत्ता रूपमें अनुभव नहीं होता। क्षेत्रकी स्वतन्त्र सत्ता न दीखनेपर देखनेवालेकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहती, फिर कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होकर वह परमपदको प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका यथार्थ ज्ञान न होनेके पूर्व भी वस्तुतः वह परमपदको ही प्राप्त था; किंतु उस समय उसे अज्ञानके कारण अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव नहीं होता था, इस अध्यायमें वर्णित विवेचनसे प्रकृति-पुरुषका यथार्थ ज्ञान होनेपर वह अनुभवमें आ जाता है। उसकी वास्तविक अवस्थामें कभी अन्तर आया ही नहीं, आ सकता भी नहीं, वह ज्यों-का-त्यों ही है। इसलिये संतोंने गाया है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहीं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जैसे सांसारिक प्राणीको परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होते हुए भी दिखायी नहीं देते; प्रत्युत संसार ही दिखायी देता है, वैसे ही परमात्म-तत्त्वका अनुभव होनेपर संसार इस रूपमें नहीं रहता, एक परमात्म-तत्त्व ही रह जाता है (७ । १९)। वहाँ दीखनेवाला, देखनेवाला और देखनेका साधन—इस त्रिपुटीका अभाव हो जाता है और अन्ततः केवल एक परमात्म-तत्त्व ही है, ऐसा अनुभव होता है। वह परमात्म-तत्त्व सर्वथा निर्विकार, शान्त और अचल है। वही योगियोंका परमात्म-तत्त्व, भक्तोंका भगवान् और ज्ञानियोंका निर्गुण ब्रह्म है—अर्थात् सबका प्राप्तव्य तत्त्व एक ही है। भगवान् इन पदोंसे उसे ही 'परमपद'की प्राप्ति कहते हैं।*

* अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गीता ८ । २१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है।'

परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंकी स्वतन्त्र सत्ता एवं महत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है, वहाँ तो केवल वासुदेव ही रहते हैं—

'वासुदेवः सर्वमिति' । (७ । २०)

मान लें, किसी घरका द्वार बंद है । उसमें चारों ओर अँधेरा है । किसीने कह दिया कि वहाँ प्रेत है तो वहाँ प्रेत दीखने लग जाता है; किंतु किसी साहसी व्यक्तिके द्वारा वहाँ जाकर प्रकाश कर देनेपर अँधेरा और 'प्रेत'—दोनों मिट जाते हैं । केवल प्रकाश ही रह जाता है । वैसे ही परमात्मतत्त्वमें स्थिति होनेपर केवल परमात्मा ही शेष रह जाते हैं; क्योंकि परमात्मा तो वहाँ पहलेसे विद्यमान थे, भूल (अज्ञान)से अँधेरेमें दूसरी सत्ता मान ली, अतः प्रेत दीखनेका भ्रम हो गया । अँधेरेमें चलते समय मनुष्य धीरे-धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाय । उसे गिरनेका, साथ ही बिच्छू, साँप और चोर आदिका भय भी लगा रहता है; किंतु प्रकाश होते ही ये सब प्रकारके भय सर्वथा मिट जाते हैं, फिर केवल प्रकाश ही शेष रह जाता है, वैसे ही मानी हुई भिन्न सत्ताकी भूल मिटते ही केवल परमात्मा शेष रह जाते हैं । अँधेरेको मिटानेके लिये तो प्रकाश लाना पड़ता है; किंतु परमात्माको कहींसे लाना नहीं पड़ता, वे तो सदैव उपस्थित हैं । इसलिये उनका अनुभव हो जाता है । संत पुरुषोंने कहा है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लग तेरी दौड़ ।
दौड़ थक्या धोखा मिटा, वस्तु ठौर की ठौर ॥

'अनन्येनैव योगेन' (१२ । ६), 'समुद्धर्ता', 'नचिरात्' (१२ । ७), 'अनन्ययोगेन' (१३ । १०) एवं 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन' (१४ । २६) पदोंसे भगवान्‌ने अनन्ययोगद्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिसे अपनी प्राप्ति सुगम बतलायी है । अन्यके न रहनेसे अनन्य होता है । अन्य क्या है ? प्रकृति और प्रकृतिके कार्य ही अन्य हैं । इनमें जबतक राग रहता है, तबतक अनन्यता नहीं; अतः इनसे राग हटते ही यह जीव स्वतः उस परम तत्त्वसे एक हो जाता है, जो उसका निज स्वरूप है । वह इतना सहज एवं सुगम है कि उसे स्मरण करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके लिये कोई परिश्रम अपेक्षित नहीं, वह निज-ज्ञान है, स्वाभाविक है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

तेरहवें अध्यायके 'पद', 'अक्षर' एवं 'उवाच' निम्नाङ्कित हैं—

(१) इस अध्यायमें श्लोकोंके ४०८, पुष्पिकाके १३ और 'उवाच'के २ पद हैं । इस प्रकार पदोंका पूर्ण योग ४२३ है ।

(२) श्लोकोंमें १०८८, पुष्पिकामें ५२, उवाच आदिमें ७ एवं 'अथ त्रयोदशोऽध्यायः'में ८ अक्षर हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ११५५ है । इस अध्यायमें सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं ।

(३) इस अध्यायमें केवल एक 'उवाच' है—

'श्रीभगवानुवाच' ।

इस अध्यायके छन्दोंपर विचार—

इस अध्यायके चौंतीस श्लोकोंमेंसे उन्तीस श्लोक तो ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं, शेष पाँचका विवरण इस प्रकार है—

पहले श्लोकके प्रथम चरणमें और अठारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'मविपुला' तथा सत्रहवें श्लोकके तृतीय चरणमें एवं इकतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'रविपुला' और तेईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'नविपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं ।

'अमृतस्य पुत्राः'

(लेखक—स्वामी श्रीऔंकारानन्दजी, आदिबदरी)

मौतकी काली एवं भयावनी छायाके नीचे जी रहे मानवको अमृतका पुत्र अर्थात् कभी न मरनेवाला घोषित करना कितने साहसकी बात रही होगी! इस प्रकारकी घोषणाके उद्घोधक हमारे मनीषी मानवको मृत्युञ्जयीकी संज्ञासे क्यों विभूषित कर सके, इसे जाननेवाले अनेक कालजयी महापुरुषोंमेंसे एक थे—जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य।

ये महामानव वसुन्धराकी गोदमें किस सन् या संवत्में आये, यह भले ही विवादका विषय हो, परंतु समयकी परिधिमें आबद्ध न होनेवाले इन सिंह-पुरुषका जीवन महत्ताका निर्विवाद आदर्श है। संन्यासी-व्योमके ये जाज्वल्यमान नक्षत्र भले ही पाञ्चभौतिक पुतलेके रूपमें दीर्घायु न हो पाये हों, परंतु धराने उनसे जो कुछ पाया, वह सूर्य-चन्द्रकी स्थितिपर्यन्त विद्यमान रहेगा। आप आगे देखेंगे कि इन महापुरुषने श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीराम या श्रीकृष्णको किस प्रकार अपने हृदयमें स्थान दे रखा था।

परम योगीश्वर एवं पारमहंस्यसंहिताका प्रमुख पात्र होते हुए भी जिन्हें चित्तचोर, छलिया और मनमोहन कहा जाता है, भला वे उन युवक संन्यासीका मन कैसे न मोह लेते! अपनी परिकल्पनाओंको साकार रूप देनेके दृढ़ संकल्पने जब उन तरुण योगीको भारत-भ्रमणके लिये प्रेरित किया और वे उन माखन-चोरकी लीलास्थली वृन्दावनमें पहुँचे तो गोविन्दजीके श्रीविग्रहको देख भाव-विभोर हो उठे। लाखों-लाखों भक्तोंके उपास्यके समक्ष उनका हृदय गा उठा—

भुवो भरावतारकं भवाब्धिकर्णधारकं
यशोमतीकिशोरकं नमामि चित्तचोरकम्।
दृगन्तकान्तभङ्गिनं सदा सदालसङ्गिनं
दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्॥

(श्रीकृष्णाष्टक ५)

'जो पृथ्वीका भार उतारनेवाले, भवसागरके कर्णधार और यशोदाके लाल हैं, उन चित्तचोरको मैं नमस्कार करता हूँ। जो अत्यन्त कमनीय कटाक्षवाले एवं सदैव सुन्दर आभूषण धारण करनेवाले हैं, उन नित्य-नूतन नन्दकुमारको मैं प्रणाम करता हूँ।'

× × ×

उन तपःपूतके चरण जब उत्तरकी ओर बढ़े तो बढ़ते ही चले गये। जनशून्य और कण्टकाकीर्ण मार्ग उन्हें रोक न पाये। हिंस्र पशुओंसे आक्रान्त भयानक अरण्य उन्हें भयभीत न कर सके। वेगवती उफनती गङ्गाकी धाराएँ उनके मार्गको अवरुद्ध न कर सकीं। अभ्रस्पर्शी हिम-शिखरोंको लाँघते, बर्फानी तूफानोंसे टक्कर लेते वे संन्यासी बढ़ते ही गये और उनके चरण दस हजार फुटकी ऊँचाईपर जाकर तबतक न रुके, जबतक उन्होंने बर्फकी छातीपर सनातन-धर्मकी ध्वजाको सदा-सर्वदाके लिये लहराने-हेतु गाड़ न दिया, जो बदरीनाथकी पुनः स्थापनाके रूपमें आज भी विद्यमान है।

देवर्षि नारदद्वारा नारदकुण्डसे निकाली गयी प्रतिमाकी प्राण-प्रतिष्ठा करते समय आचार्य शंकरकी वाणी फूट पड़ी और वे ध्यानावस्थित उस पुनीत श्रीविग्रहके समक्ष करबद्ध गा उठे—

श्रियाश्लिष्टो विष्णुः स्थिरचरवपुर्वेदविषयो
धियां साक्षी शुद्धो हरिरसुरहन्ताब्जनयनः।
गदी शङ्खी चक्री विमलवनमाली स्थिररुचिः ···॥

(श्रीकृष्णाष्टक १)

'जो लक्ष्मीद्वारा आलिङ्गित एवं सर्वव्यापक हैं, सम्पूर्ण चराचर जिनका शरीर है, जो वेदोंके विषय, समस्त बुद्धियोंके साक्षी, शुद्ध, हरि, दैत्यदलन और कमलनयन हैं, गदा, शङ्ख, चक्र और विमल वनमाला धारण किये हुए हैं, जिनकी अङ्गकान्ति स्थिर है····।'

× × ×

शक्तिकी आराधना भारतीय वैदिक संस्कृतिकी आदर्श परम्परा है। शक्ति और भक्ति एक ही पहलूके दो चित्र हैं। शिव-शक्ति या अर्धनारीश्वर शक्तिकी समन्वय परिभाषा है। मातृशक्तिको दुर्गाके रूपमें पूज्य मानकर भारतीयोंने सदा-सर्वदा शौर्यको प्रमुखता दी है।

आदिशक्ति जगज्जननी माँ भवानीकी पार्वतीके रूपमें पूजाका विधान निर्धारित कर हमारे पूर्वजोंने शक्ति-सम्पन्न होनेका आदेश दिया है। पौरुषकी पराकाष्ठाके प्रतीक आद्य शंकराचार्यके पराक्रमकी गाथा हमारे चारों धाम आज भी कह रहे हैं और स्वयं जगद्गुरु यदि उस भवानीके आराधक हैं तो आश्चर्य क्या!—

न तातो न माता न बन्धुर्न दाता
न पुत्रो न पुत्री न भृत्यो न भर्ता।
न जाया न विद्या न वृत्तिर्ममैव
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि॥

(भवान्यष्टकम् १)

'हे भवानि! पिता, माता, भाई, दाता, पुत्र, पुत्री, भृत्य, स्वामी, स्त्री, विद्या और वृत्ति—इनमेंसे कोई भी मेरा नहीं है, एकमात्र आप ही मेरी गति हैं।'

× × ×

दुनियाके सभी नैतिक और अनैतिक व्यापारोंके साथ एक ही तृष्णा जुड़ी है—रोटी, अन्न या भूख। विश्वके असंख्य भण्डारोंको खाली कर देनेके बाद भी सदा खाली रहनेवाले इस पेटका खालीपन ज्यों-का-त्यों है। अन्न जीवन है। भगवान् बुद्धने पहले अन्न, फिर उपदेशकी बात कही है। 'भूखे भजन न होइ गोपाला' की युक्ति प्रायः सर्वप्रचलित है, परंतु इन सभीसे परे प्रातः-स्मरणीय आद्यगुरुने उस अन्नकी धात्रीका जिस रूपमें वर्णन किया है, वह अद्वितीय है।

'क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं
भिक्षौषधं भुज्यताम्।'

(उपदेश-पञ्चक ४)

क्षुधाको व्याधि समझकर प्रतिदिन चिकित्साके रूपमें भिक्षान्नद्वारा उसका उपचार किये जानेके उपदेशक वे महापुरुष माँ अन्नपूर्णाकी प्रशस्तिमें कहते हैं—

नित्यानन्दकरी वराभयकरी सौन्दर्यरत्नाकरी
निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी।
प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरि॥

'माता अन्नपूर्णेश्वरि! आप नित्यानन्द प्रदान करनेवाली, उत्तम अभयदायिनी, सौन्दर्य-सागर, समस्त घोर पापोंको नष्ट करके पावन बनानेवाली, महेश्वरकी प्रत्यक्ष प्रियतमा, हिमालयके वंशको पावन करनेवाली, काशीपुरीकी अधीश्वरी और कृपारूप अवलम्बन प्रदान करनेवाली हैं, मुझे भिक्षा प्रदान कीजिये।'

× × ×

जन्म-मरणके इस प्रत्यावर्तनसे मुक्तिका मार्ग न खोजकर विषयोंमें लिप्त और माँके उदरमें निरन्तर सोते रहनेके क्रममें विश्वास रखनेवालोंको जगद्गुरु चेतावनी देते हैं—

आदौ कर्मप्रसङ्गात् कलयति कलुषं मातृकुक्षौ स्थितं मां
विण्मूत्रामेध्यमध्ये क्वथयति नितरां जाठरो जातवेदाः।
यद्यद्वै तत्र दुःखं व्यथयति नितरां शक्यते केन वक्तुम्॥

(शिवापराधक्षमापनस्तोत्र १)

'पहले कर्मप्रसङ्गसे किया हुआ पाप मुझे माताकी कुक्षिमें ला विठाता है, फिर उस अपवित्र विष्ठा-मूत्रके बीच जठराग्नि अच्छी तरह संतप्त करता है, वहाँ जो-जो दुःख निरन्तर व्यथित करते रहते हैं, उन्हें कौन कह सकता है!····'

वे तीखी फटकार देते हुए भण्ड, मूढ़ और मतिमन्द कहकर केवल भर्त्सना ही नहीं करते, प्रत्युत मानवके लिये भवसागरसे पार होनेका अत्यन्त सरल मार्ग भी दर्शाते हैं—

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥

(चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र ६)

'अङ्ग गलित हो गये, सिरके बाल पक गये, मुखमें दाँत नहीं रहे, बूढ़ा हो गया, लाठी लेकर चलने लगा, फिर भी आशा पिण्ड नहीं छोड़ती, अरे मूढ़बुद्धे ! निरन्तर गोविन्दका ही भजन कर ।'

× × ×

भगवान् श्रीरामके जीवनवृत्तपर वाल्मीकिसे लेकर आजतक अगणित संतों एवं विचारकोंने अपना मन्तव्य दर्शाकर मन, वचन और कर्मको पवित्र किया है । भगवान् श्रीरामके चरित्रका आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य कहते हैं—

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषांश्च राक्षसान् ।
शान्तिसीतासमायुक्त आत्मारामो विराजते ॥

'मोह-सागरको पारकर, राग-द्वेषरूप राक्षसोंका विनाश कर और शान्तिरूपा सीतासे संयुक्त हो आत्माराम भक्त श्रीरामकी भाँति विराजमान होते हैं ।'

× × ×

दिगन्तमें परिभ्रमण करते हुए आभा-पुञ्जोंके साथ अपने हृदयके स्पन्दनको एकाकार कर कभी हमारे वैदिक महर्षियोंने आत्मविभोर हो गान किया था कि 'सूर्य और चन्द्रकी भाँति हम भी कल्याण-मार्गका अनुसरण करें'—

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।

(ऋक् ५ । ५१ । १५)

सूर्यकी प्रदक्षिणा करती पृथ्वी या दूसरे शब्दोंमें आलोकके देवताके चारों ओर भ्रमण करते मानवकी दृष्टि जब अमा-निशाके रिक्त कुम्भपरसे पूर्णिमाके उफनते कुम्भपर आकर रुकी होगी, तब वह एक अद्भुत मन्त्र बोल उठा होगा—'अमृतस्य पुत्राः' ।

वैदिक ऋषियोंकी इस कल्पनाको साकार रूप देनेवाले जगद्गुरु आद्य शंकराचार्यजी महाराजका पार्थिव शरीर भले ही केदारनाथकी 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा'—भूमिमें समा गया हो, परंतु उस धरतीसे उठनेवाला सौरभ मन्दाकिनीके साथ ही समूचे भारतमें फैलकर जन-जनको निरन्तर पावन बनाता रहेगा ।

श्राद्धके विषयमें—

देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥
तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत् पितरो नृणाम् ॥

(मनुस्मृति ३ । २०३, २६७)

देवताओंके उद्देश्यसे किये जानेवाले कार्य (यज्ञ आदि) से पितरोंके उद्देश्यसे किया जानेवाला कार्य (श्राद्ध आदि) द्विजोंके लिये विशेष (प्रधान) कर्तव्य कहा जाता है; क्योंकि देवकार्य पितृकार्यसे पहले होनेसे पितृकार्यका पूरक (पूर्ति करनेवाला) माना गया है । काला तिल, धान्य, यव, काला उड़द, जल, मूल (कन्द) और फल—इनको विधिपूर्वक (श्रद्धायुक्त) देनेसे एक महीनेतक मनुष्योंके पितर तृप्त रहते हैं ।

हम आत्महत्या कर रहे हैं !

(लेखक—श्रीबाबूसिंहजी चौहान)

शीर्षक देखकर चौंकिये नहीं। बात सत्य है और सत्य शिव एवं सुन्दर होता है, भले ही वह कटु हो। इसीलिये कहता हूँ कि हमलोग आत्महत्या कर रहे हैं, अथवा इसे यों कहना अधिक उचित होगा कि हम आत्मघात करनेके लिये सतत प्रयत्न कर रहे हैं। हममेंसे कुछ लोग जान-बूझकर और कुछ अज्ञतावश ऐसा जघन्य अपराध बड़ी शानके साथ कर रहे हैं, जब कि विधानानुसार आत्मघात करना ऐसा घोर अपराध माना गया है, जिसके लिये कठोर दण्ड दिया जाता है।

कुछ दिन पूर्व एक समाचारपत्रमें एक समाचार प्रकाशित हुआ था। उसका शीर्षक था—'आत्महत्याके प्रयत्नके लिये कठोर कारावास'। नीचे विवरण था—'एक युवकने बेरोजगारीसे तंग आकर विष पी लिया। जिसे ठीक समयपर पता लगनेसे अस्पताल पहुँचा दिया गया। वहाँ उसे उचित चिकित्साद्वारा बचा लिया गया। पुलिसने उसका चालान कर दिया और विद्वान् न्यायाधीशने उसे एक वर्षका कठोर कारावासका दण्ड दिया है।' ऐसे समाचार आये दिन पत्रोंमें छपते रहते हैं, परंतु यह जानकर आप अवश्य ही आश्चर्य करेंगे कि विधानकी लम्बी भुजाएँ आत्महत्या करनेवालेको रेलकी पटरी, यमुना एवं गङ्गाकी धारा अथवा किसी एकान्त स्थानसे उठा लाती हैं और उसे कठोर दण्ड देती हैं, किंतु हममेंसे अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो प्रतिदिन अथवा कभी-कभी प्रतिक्षण भी आत्मघात करते रहते हैं, फिर भी उनतक न तो विधानकी भुजाएँ पहुँचती हैं और न भारतीय दण्ड-विधानके संरक्षकों, रचयिताओं, उनको लागू करनेके लिये नियुक्त पुलिस-कर्मचारियों, न्यायाधीशों आदिकी दृष्टि ही। विधान उनका बालतक बाँका नहीं कर सकता।

रेलकी पटरीपर लेटकर, नदी या सागरके अथाह जलमें कूदकर अथवा विषपान कर अपने शरीरका अन्त कर देनेवालेके लिये ही दण्ड-विधान कार्य करता है, परंतु जिन आत्मघातियोंकी ओर हम उँगली उठा रहे हैं, वे अपने शरीरको जीवित रखनेके लिये अपने आत्माका हनन करते हैं, अपने अन्तरात्माके प्रतिकूल कार्य करते हैं, इस प्रकार अपने आत्माके साथ घात करते हैं और अपने धर्म, कर्तव्य तथा आत्मस्वभावपर अपने हाथों कुल्हाड़ा मारते हैं।

शरीरान्त कर लेना इतनी बड़ी बात नहीं है, जितनी आत्माके साथ घात करना। यही भारतीय दर्शनकी पुकार है, यही गीताका संदेश है और यही अध्यात्म-जगत्का घोष है।

शरीर आत्माका घोंसला एवं वाहन मात्र है। वाहनको क्षति पहुँचाना दण्डनीय है, यह भी ठीक है; पर वाहनके लिये 'सवार'का ही घात कर देना उससे कहीं अधिक घोर अपराध है। बुद्धि यही कहती है। अतः सोचना होगा कि आत्मघात वास्तवमें है क्या ? क्या केवल 'शरीरान्त'में आत्मघातकी वास्तविक परिभाषा सिमट सकती है ?

महापुरुषों, ग्रन्थों और भारतीय दर्शनसे प्राप्त विचारके अनुसार शरीरान्त करना इसलिये अपराध हो सकता है कि मानव-शरीरकी प्राप्ति विशेष उद्देश्यकी पूर्ति-हेतु होती है। जीवात्मा दुःखोंसे घिरा है। वह जन्म-मरणके बन्धनोंमें जकड़ा है, अतः दुःखोंसे दग्ध इस जगत्में अनेक प्रकारके कष्ट भोग रहा है। वह तड़प रहा है—आनन्द-प्राप्तिके लिये, 'महान् आनन्द'के लिये। सच्चा आनन्द मिलता है—मुक्तिसे, जीवन-मरणके चक्रसे छुट्टी मिल जानेपर। मानव-योनिमें आकर जीवात्मा इन शृङ्खलाओंको तोड़ सकता है। यह स्वर्ण-अवसर खो देना नासमझी है, मूर्खता है और है मानव-योनिके प्रति घोर अपराध। अतः संसारमें मानव-शरीर धारण करनेके पश्चात् यदि कोई प्राणी इस स्वर्ण-अवसरसे लाभ उठाकर आत्मा और परमात्माके ऐक्यका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत जान-बूझकर अनेक प्रकारके कष्ट-भोगके पश्चात् प्राप्त मानव-शरीरका अन्त कर देता है तो वह अपने साथ अन्याय करता है। समाजके सम्मुख एक अनुचित उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अपने

तथा समाजके साथ अन्याय करनेवालेको दण्ड मिलना ही चाहिये। संसारके दुःखोंको भोगनेवाले 'कायर'की कौन प्रशंसा कर सकता है!

परंतु शरीरान्त कर देनेसे भी स्वयंका अन्त नहीं होता अर्थात् जडको समाप्त करके चेतनको नहीं समाप्त किया जा सकता। 'तत्त्व' फिर भी नहीं मिटता। आत्मा फिर भी जीवित रहता है। शरीर और आत्मामें अन्तर है। 'मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ'—जिसने यह जाना, उसीने सही बात जान ली। उसीकी आँखोंसे परदा हट गया। वह अपने आपको जान गया।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठोप० १।२।१८)

'आत्मा अजन्मा, नित्य, सदा एक रस रहनेवाला और पुरातन है, अर्थात् क्षय तथा वृद्धिसे रहित है। शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरता।'

ऐसी दशामें शरीरान्त करनेवालेने अपने-आपको समाप्त कहाँ किया? वह तो दुःखोंके सागरमें डूबने-उछलनेके लिये फिर भी जीवित रहा। अतः वास्तवमें आत्मघातका अर्थ होता है—आत्माके साथ घात करना। ऐसा तो हमलोग करते ही हैं।

क्यों करते हैं? केवल इसीलिये न कि हम 'शरीर'-की आज्ञाओंका पालन करनेमें अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझते हैं। शरीर चाहता है—रोटी। हम रोटीके लिये अन्तरात्माका हनन करनेके लिये भी तैयार हैं। रोटीके लिये अपने विचारोंको बेच डालना, अपने आत्माकी पुकारके प्रतिकूल कार्य करना, मानवके आगे शीश झुकाकर उसके उचित-अनुचित प्रत्येक आदेशका पालन करना, दूसरोंके स्वार्थों एवं हितोंका वध कर देना, भ्रष्टाचार करना, अनैतिक कार्योंके लिये तैयार हो जाना, धनकी लिप्सामें जीवन अर्पण करना, पैसेके लिये शोषण करना, परिग्रहके चक्करमें पड़कर श्रमको लूट लेना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं, जो हमलोग करते रहते हैं—कभी अपना कर्तव्य समझकर, कभी आवश्यकता समझकर और कभी लाचार होकर। सारा जीवन रोटी, कपड़े, दवा, मकान, दूकान, संतान, प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, खान-पान आदिमें लिप्त रहकर मृत्युके आलिङ्गनमें चले जाना मानव-जन्मका लक्ष्य तो नहीं है। जब कि प्रकृति हमारे सम्मुख अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके जीवनके लक्ष्यकी ओर इङ्गित करती है, अपनी मूकवाणीमें हमें शिक्षा प्रदान करती है—

यत्र मूलफलैर्वृक्षाः परकार्यं प्रकुर्वते।
मनुष्या यदि विप्राज्य न परार्थास्तदा मृताः॥
(ना० पु० पूर्व० १२।२६)

वृक्षको तो हम प्रतिदिन देखते हैं। वह अपना सारा जीवन परमार्थमें लगाता है। उसका फल, फूल, मूल—सभी तो दूसरोंके लिये हैं, परंतु मनुष्य, जो संसारकी सर्वश्रेष्ठ योनिमें जन्म लेता है, यदि वृक्षकी भाँति भी पर-हितोंके लिये कार्य नहीं करता तो फिर क्या उसका जीवन सफल होगा? क्या उसे जीवित समझा जायगा? वह तो मृतकसे भी बहुत नीचा है; क्योंकि मृतक तो अपराध नहीं करता, परंतु यह जीते-जी अपराध ही करता रहता है। संसारके लिये उसके जीवनसे क्या लाभ? वह अपने स्वार्थ तथा हितके लिये जीवित रहनेवालोंके जीवनको निगलता रहता है। ऐसे लोग रोटीको नहीं खाते, रोटी उन्हें ही खा जाती है।

अपने लिये जूझते रहना ही तृष्णा और परिग्रहको जन्म देता है। यही एक अवगुण अथवा आत्माके प्रतिकूल कार्य सत्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है, ब्रह्मचर्यको तिलाञ्जलि दिला देता है और पर-हितोंकी चोरी कराता है, साथ ही आत्माके परम आदर्श अहिंसासे नाता तुड़वाकर हिंसक वृत्तिका अनुयायी बना देता है। इस प्रकार मानव-जन्मका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इसीलिये स्वार्थोंमें फँसकर जीवन व्यतीत करना आत्मघातकी परिधिमें आता है।

क्षणिक सुखोंके लिये आत्माके महान् सुखको तिलाञ्जलि देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। जो लोग भौतिक पदार्थोंमें सुखकी कल्पना करते हैं, वे परम सुखको तो खो ही देते हैं, मानव-जन्म भी व्यर्थ गँवा देते हैं। उन्हें कभी दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता।

'तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।'

'तृष्णा महापापिनी और नित्य उद्वेग पैदा करनेवाली कही गयी है।' इसके फन्देमें फँसकर व्यक्ति अपने आपको नष्ट कर डालता है; क्योंकि 'अन्तो नास्ति पिपासायाः'—तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है। इस बातकी सत्यताका प्रमाण

स्वयं आपका जीवन है। क्या कभी आपको संतोष प्राप्त हुआ ? तृष्णाकी जिस सीमाका स्पर्श करनेके लिये आप आगे बढ़ते हैं, वहाँतक पहुँचते ही वह सीमा और आगे खिसक जाती है तथा नयी-नयी चिन्ताओंका जन्म हो जाता है। इसीलिये महर्षि शौनकका कथन है—'संतोषः परमं सुखम्'—संतोष ही परम सुख है। आप इसकी परीक्षा कर लीजिये। संतोषमें जो सुख है, वह आपको किसी अन्य उपायसे प्राप्त नहीं होगा, किंतु आज तो 'संतोष' शब्दकोष, साहित्य अथवा वाणीका विषयमात्र रह गया है, जीवनसे इसकी इतिश्री हो गयी है। इसीलिये सर्वत्र दुःख, चिन्ता, कष्ट और उत्पीड़न परिव्याप्त है।

भारतीय दर्शनने हमें एक मन्त्र दिया—त्याग करो। अपनी इच्छाओंका त्याग करो, अपने स्वार्थोंका त्याग करो, फिर आपको संतोष होगा, सुख मिलेगा। परिग्रही या संग्रहीके हृदयमें न संतोष होता है और न त्यागकी भावना ही। त्यागकी भावनाका अभाव शोषण तथा अन्याय कराता है और भौतिक पदार्थोंका स्वामित्व उत्पन्न करके मानव-समाजमें संकटोंको अङ्कुरित करता है। आजकी राष्ट्रिय और अन्ताराष्ट्रिय समस्याका मूल भी तृष्णा, परिग्रह, संग्रह, असंतोष और अत्याग है। इन्हींसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह आदिकी उत्पत्ति होती है तथा आर्थिक विषमता और अधिकारोंका हनन होता है। त्यागकी भावना आत्माका स्वभाव है। परिग्रह, संग्रह, मोह, लिप्सा आदि आत्माके स्वभाव नहीं हैं, अपितु पथ-भ्रष्टताकी निशानी हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥

(११।५।१८)

'जिन्होंने (आत्मज्ञान सम्पादन करके) कैवल्य-पदको नहीं प्राप्त किया और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, ऐसे अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्गमें फँसे हुए पुरुष एक क्षणके लिये भी शान्ति नहीं पाते और अपने आप ही अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।'

हममेंसे जो लोग न जीवनके उद्देश्यको समझते हैं और न उसके लिये कुछ पुरुषार्थ ही करते हैं, यदि समझते भी हैं तो उसके अनुरूप अपने जीवनको ढालते नहीं, वे आत्मघाती ही तो हैं।

ठीक है, आज हम सभी किसी-न-किसी चिन्तामें फँसे हैं। इन चिन्ताओंका मूल क्या है ? अपने जीवन या अस्तित्वके लिये संघर्ष, अपनी मान-मर्यादा अथवा प्रतिष्ठाके लिये संघर्ष, अपनेको दूसरोंसे आगे ले जानेका संघर्ष, अपने संग्रहको अधिक बढ़ानेका चक्कर और अपने लिये सांसारिक सुखोंके सम्पादनका संघर्ष—ये ही तो हैं हमारी चिन्ताओंके स्रोत। दूसरोंके स्वार्थों और हितोंमें अपने हितोंको विलीन कर दीजिये, अपनी चिन्ता छोड़कर दूसरोंकी चिन्ता करनेमें लग जाइये, अपना जीवन परमार्थके लिये दे दीजिये, सेवा-वृत्ति अपना लीजिये, तब आपको कोई दुःख अनुभव नहीं होगा। चिन्ता भी होगी तो उसमें भी सुख तथा संतोष रहेंगे; परंतु आज हम सब अपने-अपने लिये जी रहे हैं, अपने-अपने शरीर, उसके मोह, उसकी कामनाओं, आकाङ्क्षाओं और इच्छाओंके लिये जीवित हैं। हमें अपने 'स्व'से—अपने आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता। जन्मका कारण, जीवनका उद्देश्य हमारे समक्ष नहीं है, अतः हम प्रतिदिन प्रतिक्षण आत्मघात करते हैं, आत्माका हनन करते रहते हैं। यह बात दूसरी है कि आत्मा अजर-अमर है, अतः हम प्रयत्न करनेपर भी उसकी हत्या नहीं कर पाते, परंतु हम प्रयत्नशील रहते हैं—आत्माके बन्धनोंको और भी कसते रहते हैं पतनके लिये। यह हम आत्मघातियोंका ऐसा अपराध है, जिसे भारतीय दण्ड-विधान भले ही क्षम्य समझे, परंतु इस अपराधके लिये हमें दण्ड अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

अब आप अपने जीवनपर दृष्टि डालिये और कुछ देर एकान्तमें बैठकर सोचिये। रात-दिन आपके मस्तिष्कमें कौन-कौन-सी बातें उछल-कूद मचाती रहती हैं ? मकान, दूकान, नौकरी, घर-गृहस्थी, पद-प्रतिष्ठा, रोटी, कपड़ा, दवा, पैसा, कामपिपासा आदिमेंसे न जाने कितनी ऐसी बातें हैं, जो आपको नाच नचाती रहती हैं। कभी आपने सोचा कि इन चिन्ताओं और दुःखोंका कारण क्या है ? कभी आपने संतोषरूप धनको अपनी गाँठमें बाँधकर तृष्णासे पिण्ड छुड़ानेकी बात सोची ? कभी आपने अपनी दवा दूसरे रोगीको देनेका साहस किया ? कभी आपके थालकी रोटी किसी दूसरे भूखेके हाथतक पहुँची ? कभी आपने दूसरोंके हितके लिये अपने हित या स्वार्थका परित्याग किया ? कभी आपने आत्माके धर्म या कर्तव्यके लिये अपने दूसरे कार्योंकी बलि दी ? कभी आपने अपनेको शरीरसे भिन्न समझनेका प्रयत्न किया ? नहीं, नहीं, नहीं। इसी प्रकार अन्यान्य प्रश्नोंकी संख्या बढ़ती रहेगी और आपके मुखसे नहीं-नहीं निकलता रहेगा। तो फिर आप निःसंदेह आत्मघात कर रहे हैं।

मानसमें तुलसीका मानस

(लेखक—श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी तायल, एम्० ए०)

'श्रीरामचरितमानस' श्रद्धा तथा विश्वासके सम्पृक्तयुग्मका वह संदेशवाही काव्य है, जिसमें अतीतकी गरिमा, वर्तमानकी लघिमा और भविष्यकी महिमाका 'त्रैराशिक' लगाते-लगाते कविने ऐहिक एवं पारलौकिक पथका अप्रतिम अनुसंधान किया है। हृदय-पक्ष एवं बुद्धि-पक्षका जैसा सुन्दर सामञ्जस्य 'मानस'में मिलता है, वैसा श्रीरामकथाके किसी हिंदी ग्रन्थमें नहीं मिलता। यद्यपि मानसके अमरगायक महाकवि तुलसीदासजीने कविवर कालिदासकी भाँति[1] अपनी काव्यशास्त्रीय अनभिज्ञता ज्ञापित करनेकी परम्पराका निर्वाह किया है[2], किंतु जैसे संस्कृत-साहित्यके क्षेत्रमें महाकवि कालिदास उक्त दैन्य-प्रकाशनसे काव्यशास्त्रानभिज्ञ नहीं, अपितु विनयावनत सिद्ध महाकवि ही सिद्ध हुए हैं, उसी प्रकार गोस्वामीजी भी उक्त दैन्यप्रकाशनसे धुरंधर काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ संत-कवि सिद्ध होते हैं; क्योंकि विनम्रता-प्रकाशन तो विवेकशील विद्वानोंका गुण ही है।[3]

'मानस' हिंदी-साहित्यका सर्वोच्च महाकाव्य है, इसमें प्रायः किसी भी निष्पक्ष विद्वान् एवं पूर्वाग्रहरहित मानवको संदेह नहीं है। महाकवि तुलसीदासजीने इसके निर्माणमें अपना मन्तव्य 'स्वान्तःसुखाय' घोषित किया है और इस बातको उन्होंने 'स्वान्तस्तमःशान्तये'-के रूपमें भी दोहरानेकी चेष्टा की है। यदि हम उनके 'स्व'को व्यापक मानें तो मानसकी रचनाका उद्देश्य होगा—लोकके अज्ञानका विनाश और आन्तरिक सुखकी उपलब्धि। संकुचित 'स्व'की वृत्ति स्वीकार करनेपर 'अपने अज्ञानका निरसन और आत्मानन्दकी अनुभूति' लक्ष्य सिद्ध होता है। 'मानस'के अन्तमें 'पायो परम विश्राम' तुलसीकी घोषणासे भी संत कविका व्यक्तिवाद सुस्पष्ट है। किंतु 'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।' का अध्ययन करते हैं, तब वही 'जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥' (मानस ५। ४६) की बात सार्वजनीन प्रतीत होती है। यही कारण है कि तुलसीदासजीने आत्मकल्याण और लोक-कल्याणमें ऐक्य स्थापित करनेमें पूर्ण सफलता प्राप्त की है। व्यष्टि और समष्टिका यह ऐक्य तुलसीके मानसमें व्यक्ताव्यक्त रूपमें अभिव्यञ्जित हुआ है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की वास्तविकता यदि किसी महाकाव्यमें इतने व्यापक स्तरपर व्यक्त हुई है तो वह एकमात्र ग्रन्थ है—'श्रीरामचरितमानस'।

ग्रन्थके प्रारम्भमें जहाँ गोस्वामीजीने 'मानस'का रूपक बाँधा है, उसके अध्ययनसे ही यह ज्ञात होता है कि वे लोक-कल्याणके लिये श्रीरामकथा-प्रतिपादक उक्त ग्रन्थरत्नका निर्माण करते हैं—

रामकथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥
(मानस १। ११३। १)

यहाँ भी संत-कवि इस आशयकी अभिव्यक्ति करते हैं कि मैं संदिग्ध व्यक्तियोंके संदेहको दूर करनेके लिये श्रीरामकथाका गुणगान करता हूँ।

तुलसीदासजी अपने इस 'मानस'में सर्वत्र व्याप्त हैं, किंतु कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ उनकी मानसिक प्रवृत्ति विशेष बलवती होकर बोलती है। मूल रूपमें वे भक्त हैं, अपने आराध्य श्रीरामको वे 'मायाधीस ग्यान गुन

१. मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ (रघुवंश १। ३)

२. कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥ (मानस १। ८। ६)

३. बधा नवहिं बुध बिद्या पाएँ। (मानस ४। १३। २)

धाम्' मानते हैं । जो लोग 'राम'को साधारण नर, भूपाल मानते हैं, उनसे वे पहले तो विनम्रतापूर्वक इस प्रकार निवेदन कर देते हैं—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
(मानस ५ । ३८ । १)

किंतु यदि कोई रावण-जैसा हठधर्मी या नास्तिक नहीं मानता, तब तो वे उसे डाँट बताकर इस प्रकार समझानेका प्रयास करते हैं—

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा॥
(मानस ६ । २५ । ३)

विज्ञ पाठक! आप भी समझते होंगे कि यहाँ कविका 'मानस' कितना खुलगया है। इसी प्रकार कुब्जाका प्रसङ्ग देखिये । वहाँ उन्हें 'हुमकि लात तकि कूबर मारा'से ही संतोष नहीं होता, जबतक कि उसे 'नख सिख खोटी' समझकर शत्रुघ्न 'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी'की स्थितिमें नहीं पहुँचा देते । गोस्वामीजीकी श्रीरामविषयिका रति इतनी प्रगाढ़ थी कि जिस पात्रने श्रीरामकी कृपा प्राप्त की, उन्होंने उसकी जी खोलकर प्रशंसा की और जिसने विरोध किया, उसे संत-हृदय सह न सका। श्रीहनुमान्‌के प्रति तुलसीदासजीका मानस अत्यन्त ही द्रवित रहा है । देखिये जगन्माता श्रीसीताजीका वरदान—

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥
(मानस ५ । १६ । २)

जब देवोंने श्रीराम-वनवास-हेतु कुचक्र किया, तब वे भी श्रीतुलसीदासजीके क्रोध-भाजन बने। वहाँ 'भववा महा मलीन' कहा गया तथा 'सुर स्वारथी'के रूपमें देखे गये।

हाँ, भक्त सुतीक्ष्णके प्रसङ्गमें संत-कविका मानस इतना रम गया है, जिसमें उनकी भक्तिका उद्दाम रूप दृष्टिगोचर होता है । सुतीक्ष्णका कहीं नाचना, कहीं उतावल चलना और कहीं 'पनस फलवत्' रोमाञ्चित और अचल हो जाना उनकी मनःस्थितिको दर्शानेवाले उद्गार हैं। इसी प्रकार अयोध्याकाण्डके 'तापस-प्रसङ्ग'में, जो मानसका रहस्यात्मक स्थल है, गोस्वामीजीका भक्त-हृदय पूर्णतया खुल गया है। तृतीय स्थल है—वनपथका वह प्रसङ्ग, जहाँ ग्राम-वधूटियाँ जगज्जननी सीतासे परिचय पूछती हैं और 'खंजन मंजु तिरीछे नयननि'के रूपसे सीताजी उन्हें संकेतात्मक ढंगसे श्रीरामका परिचय देकर आनन्दकी वृष्टि कर देती हैं। इस स्थलके अतिरिक्त 'पुष्प-वाटिका'का प्रसङ्ग भी संत-कविके 'मानस'का दिव्य प्रतिबिम्ब है ।

रामहि चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया॥
(मानस १ । २४१ । ३)

मर्यादापुरुषोत्तमका यह 'रास' अथवा प्रकृति और पुरुषका यह दिव्यरसवृद्धिरूप अलौकिक मिलन भक्त हृदयके अनुरागात्मक पहलूका सर्वोत्तम निदर्शक है ।

अस्तु, इस लघु लेखमें तुलसीके 'मानस'क आंशिकरूपमें दिखलानेका प्रयास किया गया है । वैसे तो 'अस मानस मानस चख चाही ।'की आवश्यकता है, जो यहाँ कहाँ ? यह तो एक अङ्गुल्यानिर्देश ही है ।

तुलसीके प्रति

(रचयिता—श्रीकृष्णकुमारजी पारीक)

(१)
कविकुल-चूड़ामणि महा दिव्य,
हिंदी-जननीके प्रिय नन्दन!
तुमने कुछ ऐसा मन्त्र दिया,
हो गये सुलभ श्रीरघुनन्दन॥

(२)
दी सुधा समन्वयकी जगको,
वैषम्य-हलाहल नष्ट किया।
उच्छृङ्खल जीवन-सरिताको,
तुमने मर्यादा-सिन्धु दिया॥

(३)
है भारतका हर घर हिमगिरि,
जिसमें 'मानस' लहराता है।
जो भी अवगाहन कर लेता,
वह भव-सागर तर जाता है॥

(४)
हिंदी-साहित्य खरा सोना,
'मानस' बहुमूल्य सुहागा है।
इस निधिसे वञ्चित रह जाये,
वह सचमुच निरा अभागा है॥

वह दिन कब आयेगा ?

प्यारे नटनागर ! तुम्हीं बताओ कि मेरा चिरवाञ्छित वह सुदिन कब आयेगा ? दुलारे चितचोर ! तुम्हीं कहो कि वह शुभ घड़ी, वह सुहावना सरस समय, वह परम प्रिय अनमोल पल, वह भाग्योदयका मुहूर्त कब होगा, जब ये चिरतृषित नेत्र उस अनुपम-माधुरीका पानकर अन्य किसी भी छविको न देख सकेंगे ? अहा ! वह समय बड़ा ही अनमोल होगा, जब प्रियतमका करोड़ों चन्द्रमाओंको लजानेवाला मोहन मुखड़ा घनश्याम मेघसे निकल पड़ेगा और अपनी विश्वविमोहिनी चटकीली चाँदनी-से विश्वको चमका देगा। उस समय कोयल पञ्चम स्वरमें 'कुहू'-'कुहू'की ध्वनिसे अपने प्राणाधारको पुकार उठेगी। पपीहा 'पी कहाँ'की रटसे प्रेमिकाको अधीर कर देगा। मोरके शोरसे सहसा हृदयमें चोट लग जायगी। योगी चञ्चल चितवनसे उस नवीन चन्द्रकी ओर त्राटक लगा लेंगे और प्रकृति-देवी उस अलौकिक सौन्दर्यकी झाँकी कर थिरक-थिरक नाचने लगेगी।

भक्त-मन-चोर ! सच कहना, यह चोरीकी कला तुमने किससे और कब सीखी ? सुनते हैं, तुम व्रज-ललनाओंसे बहुत इठलाते हो, उनका माखन चुरा लेते हो और कोई-कोई तो यहाँतक कहते हैं कि तुम उनका सर्वस्व लूट लेते हो। यदि बात सत्य है तो क्या मैं भी तुम्हारी इस लूट-पाटका एक नवीन पात्र बन सकता हूँ ? क्या मैं भी तुमसे यह कह सकता हूँ कि ऐ अनोखे चोर ! मेरा भी चित्त चुरा लो ?

मेरे राम ! वह दिन कब आयेगा, जब मैं भी शिला हो जाऊँगा और तुम्हारे चरणरज-स्पर्शसे मुझे उस परमानन्दकी प्राप्ति होगी, जिसके लिये योगिजन लाखों वर्षोंतक निराहार रहकर तुम्हारी उपासना किया करते हैं ? भवभयहारी राम ! वह शुभ घड़ी कब आयेगी कि जब नटखट केवटकी नाईं मुझे भी कठौतेमें तुम्हारे कोमल चरण-कमलोंको अपने इन कठोर हाथोंसे भलीभाँति मल-मलकर धोनेकी अनुमति मिल जायगी ?

हे गोपीकुमार ! वह समय कब आयेगा, जब मैं तुम्हें कदम्बकी डालपर बैठकर मन्द-मन्द हास्य करते हुए बाँसुरीके मधुर स्वरोंको बजाते सुनूँगा, जिन्हें सुनकर व्रज-ललनाएँ अपने घर-द्वार, पति-पुत्र-परिवारका परित्याग कर तुम्हारी ओर बलात्कारसे खिंच जाती थीं। खिलाड़ी ! सुना है, तुम्हारी मुरलीमें अद्भुत आकर्षण है। उसके स्वरोंमें अपार अनोखापन है। बाँसुरी तो मैंने बहुत सुनी है, पर तुम्हारी बाँसुरी तो गजब कर देती है। देवता और मनुष्योंकी कौन कहे, पशु-पक्षीतक उस ध्वनिको सुनते ही स्तब्ध होकर खाना-पीना भूल जाते हैं।

सुना है, अब भी तुम वृन्दावनकी कुञ्जोंमें वही राग-तान छेड़ते हो और भाग्यवान् भक्तोंको तुम्हारी वंशीकी ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है। तुम्हारी कृपा-दृष्टि होते ही तुम उन्हें अपने मोहन मुखड़ेका दर्शन दे कृतकृत्य कर देते हो। हे पतितपावन ! क्या मुझे प्रेमके प्यालेकी एक बूँद पान करनेका भी अवसर न मिलेगा ? क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि तुम्हारा एक प्रेम-पथ-पथिक तुम्हारे प्रेम-पथसे भ्रष्ट हो जाय और संसाररूप कँटीले जंगलोंमें भटकता रहे ? यह तो बिल्कुल सही है कि मेरे अंदर व्रज-ललनाओंका-सा प्रेम नहीं, केवटके-से प्रेम-लपेटे अटपटे बैन नहीं, गजका-सा आर्तनाद नहीं, प्रह्लादकी-सी अनन्यता और निष्कामता नहीं, ध्रुवका-सा विश्वास नहीं, द्रौपदीकी-सी पुकार नहीं, सूरदासकी-सी लगन नहीं और गोस्वामी तुलसीदासका-सा भरोसा नहीं, फिर भी तुम ठहरे पतितपावन और मैं ठहरा तुम्हारा एक पतित। यदि तुम्हारा दावा है कि मैं पतित-से-पतितका भी उद्धार करता हूँ तो मैं इसी नाते करबद्ध प्रार्थना करता हुआ तुमसे पूछता हूँ कि वह दिन कब आयेगा, जब तुम इस पतितका उद्धार कर अपने 'पतितपावन' नामको सार्थक करोगे ?

मेरे हृदयके राजा ! वह दिन कब आयेगा, जब मैं सांसारिक झंझटोंको छोड़, विषयोंसे मुख मोड़,

सोनेकी बेड़ी तोड़, तुम्हारे पाद-पद्मोंसे सम्बन्ध जोड़ूँगा ? कब तुम्हारे चरणोंका स्पर्श कर शान्ति-लाभ करूँगा ? तुम्हारे कमल-नयनोंको देखकर तृषित नेत्रोंको शान्त करूँगा ? तुम्हारे मुखकमलको निरख-निरखकर कलेजेकी कसक मिटाऊँगा और तुम्हारी सुखमयी गोदमें बैठकर तुम्हारे शीतल कर-स्पर्शसे उस आनन्दका अनुभव करूँगा, जिसका करोड़ों जिह्वाएँ भी मिलकर वर्णन नहीं कर सकतीं ?

वह दिन कब आवेगा, जब मैं भी सूरदासकी तरह कहूँगा—

बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकै मोहि।
हिरदय ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

तुम आगे-आगे भागते जाओगे तो मैं पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा और तबतक नहीं छोड़ूँगा, जबतक तुम पकड़े न जा सकोगे।

मेरे जीवनाधार ! अब न तरसाओ। बस, बहुत हो चुका। सभी बातोंकी एक सीमा होती है, सभी कामोंका एक अन्त होता है। 'का बरषा जब कृषी सुखाने' यदि मिलना ही है तो अभी मिलो, इसी क्षण मिलो, मैं कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। राह देखते देखते आँखें दुखने लगीं। रोते-रोते आँसू सूख गये। पुकारते-पुकारते गला बैठ गया, पर तुम न आये।

हृदय-कपाट हर समय तुम्हारे लिये खुले पड़े हैं। तुम्हें यह कहनेका भी अवसर नहीं मिलेगा कि द्वार खटखटाया, पर उत्तर न मिला। द्वार खुला रहनेसे चोर-डाकू बड़ा तंग करते हैं, पर तुम्हारे ही लिये मैंने उन्हें खोल रखा है। यदि मैं यह समझ लूँ कि तुम नहीं आओगे तो भी मुझे विश्वास नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हें आना ही पड़ेगा।

अवश्य ही अब मैंने समझा कि तुम्हारे कर्ण-रन्ध्रतक मेरी करुण-पुकार नहीं पहुँची, नहीं तो तुम अपना वाहन छोड़ पैदल ही दौड़े चले आते।

याद रखो, यदि देर करके आये तो तुम मुझे नहीं पा सकते—

प्राण तृषातुरके रहे, थोड़ेहू जल दान।
पीछे जल भर सहस घट, डारेहु मिले न प्रान॥

—प्रेम-पथ-पथिक

ज्ञान-कोष

एक लकड़हारा था। वह जंगलसे लकड़ियाँ काटकर लाता और उन्हें बेचकर बड़े ही कष्टपूर्वक अपना जीवन-यापन करता था। अकस्मात् उस मार्गसे जहाँ वह लकड़ी काट रहा था, एक संन्यासी निकले। उन्होंने लकड़हारेके दुःखको देखकर उससे कहा—'बेटा ! जंगलमें और आगे बढ़ो, तुम्हें लाभ मिलनेवाला है।' लकड़हारा आगे बढ़ा, तब उसे एक चन्दनका वृक्ष मिला। उसने उस वृक्षसे बहुत-सी लकड़ियाँ काट लीं और उसे ले जाकर बाजारमें बेचा। इससे उसको बहुत लाभ हुआ। उसने सोचा—'संन्यासीने चन्दनके वृक्षका नाम क्यों नहीं लिया ? इतना ही क्यों कहा कि और आगे बढ़ो।' दूसरे दिन वह जंगलमें और आगे बढ़ा, तब उसे ताँबेकी एक खान मिली। उसने उसमेंसे मनमाना ताँबा निकाला और बाजारमें बेचकर रुपया प्राप्त किया। तीसरे दिन वह और आगे बढ़ा, उस दिन उसे एक चाँदीकी खान मिली। उसने उसमेंसे मनमानी चाँदी निकाली और बाजारमें बेचकर और अधिक रुपया प्राप्त किया। चौथे दिन वह और आगे बढ़ा, वहाँ उसे सोने और हीरेकी खानें मिलीं। अन्तमें वह बड़ा धनवान् हो गया। इसी प्रकार वे लोग, जिन्हें ज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा होती है, थोड़ी सी सिद्धि प्राप्त करनेपर रुकते नहीं, बराबर बढ़ते ही जाते हैं। अन्तमें उस लकड़हारेकी तरह ज्ञानका अक्षय कोष पाकर आध्यात्मिक क्षेत्रमें वे धनवान् हो जाते हैं।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

ईश्वर-भक्तिका स्वरूप

(संत श्रीविनोबा भावे)

अपने देशमें ऐसा एक भी गाँव नहीं, जहाँके निवासियोंको परमेश्वरमें श्रद्धा न हो। स्त्री, पुरुष—सब परमेश्वरपर श्रद्धा रखते हैं, उनका नाम लेते हैं। सोनेके पूर्व तथा उठनेके पश्चात् परमेश्वरका नाम लेते हैं। अब सोचना चाहिये कि ईश्वरका नाम तो लेते हैं, किंतु ईश्वरका काम करते हैं? अपने खाने-पीनेकी चिन्ता दिनभर करते हैं, बाल-बच्चोंमें आसक्ति रखते हैं—यह घर-घर चलता है। इसमें हमने ईश्वरका कौन-सा काम किया? हम ईश्वरका नाम लेते हैं, किंतु सचमुच ईश्वरके लिये हमारे मनमें प्रेम है? हम चाहते हैं कि हमारा शरीर अच्छा रहे, हमारे बाल-बच्चे सुखी रहें, वे बीमार न पड़ें, यदि बीमार हैं तो शीघ्र अच्छे हो जायँ, खेतमें अच्छी फसल हो, इसीलिये स्मरण करते हैं न? इसमें ईश्वरका प्रेम कहाँ आया? यह तो हमारे शरीरके लिये, बाल-बच्चोंके लिये, फसलके लिये प्रेम है। 'अमुक सरकारी अधिकारीको प्रसन्न कर देंगे तो आपको लाभ होगा', ऐसा आपको मालूम हो जाय तो आप क्या करेंगे? आप उसका नाम लेंगे, उसे प्रसन्न करेंगे। 'कोई नया अधिकारी आया है, उसे संतुष्ट नहीं करेंगे तो हानि होगी', यह पता लगनेपर आप उसे संतुष्ट करते हैं। आप ईश्वरको भी सरकारी अधिकारी-जैसा ही समझते हैं। मानते हैं कि उनका नाम लेंगे तो वे प्रसन्न होंगे, जिससे हमारे बाल-बच्चे अच्छे रहेंगे, फसल अच्छी होगी।

× × ×

एक लड़का बीमार पड़ गया। उसकी बीमारी बहुत बढ़ गयी। ओषधिके उपचार किये गये, किंतु कुछ लाभ न हुआ। अन्तमें उसकी माँ परमेश्वरकी स्तुति करने लगी—'हे परमेश्वर! मेरा बच्चा अच्छा हो जायगा तो मैं बलि दूँगी।' फिर उसकी समझमें आया कि ऐसा सौदा नहीं हो सकता। पहले देना पड़ेगा, पश्चात् परमेश्वर सहायता करेंगे, तो कहा—'कल तेरे नामपर बलि दूँगी, मेरे लड़केको अच्छा कर दे।' बलि दी गयी। रोग अच्छा हो गया। और यह मान लिया गया कि भगवान् प्रसन्न हो गये। यही प्रेम है न? यही भगवद्भक्ति है न? बच्चेको अच्छा करनेके लिये बलि देनेसे भगवान् प्रसन्न हो जायँ, ऐसी आशा रखना क्या उचित है? और किसी दूसरे कारणसे बच्चा अच्छा हो गया तो बलिदानके कारण भगवान् प्रसन्न हो गये, ऐसा मानना, क्या यही ईश्वर-भक्ति है? सब भगवान्की संतानें हैं। हम भी उसीकी संतान, और बलिपशु भी, सब उसीके पुत्र हैं—ऐसा मानना चाहिये। क्या उस बलिदानसे उसकी माता प्रसन्न होगी, जिसने उसे पैदा किया है? यदि यह ठीक है तो अपने भाईको मारनेसे अपनी माँ क्यों नहीं प्रसन्न होती? 'तेरे छोटे लड़केका बलिदान दूँगा।' कोई लड़का अपनी माँसे ऐसा कहे तो क्या माँ प्रसन्न होगी कि मेरा कितना बड़ा भक्त है, अपने भाईका बलिदान दे रहा है? अपने एक बच्चेको काटनेसे क्या उसे प्रसन्नता होती है? समाजमें कैसी मूढ़ भक्ति फैली हुई है!

ऐसी मोहगर्भित भक्तिसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते; प्रसन्न होते तो हमारी बुद्धिपरका परदा हट जाता। हममें ज्ञानका प्रकाश होगा, हमारा चित्त शुद्ध होगा, तभी भगवान् प्रसन्न होंगे।

सारा समाज हमारे लिये स्वामी है, भगवान् है। ये भगवान्की मूर्तियाँ हैं। इनको प्रसन्न रखेंगे, इनकी सेवा करेंगे तो चित्त शुद्ध होगा। आपके घरपर कोई भूखा मनुष्य आया, आपने उसे बड़े प्रेमसे खिलाया! आपके घरमें भोजन नहीं था तो भी स्वयं फाका (उपवास) करके उसे खिलाया तो आपने भगवान्से सच्चा प्यार किया, यह उसकी भक्ति हुई।

हम करते क्या हैं? देवस्थानमें जाते हैं। वहाँ मूर्तियाँ होती हैं। उनके सामने नैवेद्य रख दिया—दूधका। मूर्ति तो पीती नहीं, अपने घर ले जाकर स्वयं पी गये। यदि उस मूर्तिने दूध पी लिया होता तो कोई जाता उसे दूध देनेको?

ऐसा मैं क्यों कहता हूँ? ऐसी भूखी मूर्तियाँ हमारे सामने हैं, इसलिये; किंतु उनको कब हम दूध पिलाते हैं? इस समाजमें दुःखीलोग क्या कम हैं? उनकी सहायता करनेकी इच्छा कभी हमें होती है? मन्दिरमें जाकर पूजा करते हैं, मानते हैं भगवान् प्रसन्न होंगे। कहते हैं—'हे भगवन्! मेरे लड़केका विवाह हो जाय तो एक नारियल चढ़ाऊँगा।' या कहते हैं—'लड़केकी बीमारी मिट जाय तो दो पैसेकी मिश्री दूँगा।' इससे भगवान् कहाँ प्रसन्न होते हैं? यह तो गाँव-गाँव चलता ही है, फिर भी हमारा दुःख नहीं मिटा। यदि वैसा ही है तो हमें समझना चाहिये कि हमारी भक्ति करनेका प्रकार ही गलत है।

अपना गाँव, अपना समाज आज टूटा हुआ है। उसे खड़ा करना है। यों समझकर उसकी निष्काम-भावसे सेवा करेंगे, तभी सच्ची भक्ति होगी। स्वार्थके लिये परमेश्वरका नाम लेते हैं तो भक्ति कहाँ रही? यह तो व्यापार है। व्यापारसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते? आपसे हमारी प्रार्थना है कि ऐसी भक्ति आरम्भ करें—समाजकी सेवा करें, ग्रामवासियोंको सुखी करें, दुःखीके पास पहुँचें, उनके दुःख-निवारणमें सहायता करें और यह सब करें भगवान्की भक्ति समझकर। हमें नित्य सोनेके पहले यह सोचना चाहिये कि आज दिनमें अपने बच्चोंके लिये तो मैंने इतना किया, किंतु गाँवका क्या काम किया? जिनके साथ स्वार्थका सम्बन्ध है, उनके लिये तो किया, किंतु जिनके साथ कोई स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं, उनके लिये भी कुछ किया?

विवाहमें अपने मित्रोंको अच्छी तरह खिलाया। वे तो नित्य खाते ही हैं। वे गरीब थोड़े ही हैं, वे तो श्रीमान् हैं। रिश्तेदारोंको आग्रह करके खिलाते हैं—'दो लड्डू और खाइये।' वे कहते हैं—'पेट भर गया है।' तो भी फिर कहते हैं—'प्रेमके लिये खाइये।' और खिलाते हैं। भूखोंके लिये कोई प्रेम नहीं। हमें सोचना चाहिये कि हमने दुःखीके लिये क्या किया?

यदि आज हमने दुःखी, गरीबके लिये कुछ नहीं किया तो आजका दिन व्यर्थ गया—आज हम जीवित नहीं थे, मर गये थे, ऐसा मानना चाहिये। हम उसी दिन जीवित रहते हैं, जिस दिन दुःखीके लिये हमने कुछ किया हो—ऐसा समझना चाहिये। इस तरह भगवान्की भक्तिकी ओर ध्यान जाय तो सारा विश्व सुखी हो सकता है।

(प्रेषक—श्रीदुर्गाप्रसादजी)

अज्ञता-विज्ञता

(रचयिता—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

टीपटापके बलपर
टिकाऊ दीखती,
असल-सी लगती,
कागजकी यह जग-नाव ।
असलियत भाँप,
द्रोह ले टीपटापकी,
छोड़ नैयाको—
पल्ला छुड़ा,
मन-खिवैयासे भी,
कूद मैं पड़ता
आतम-समुद्रमें,
और रह जाता,
सहज डूबकर ।
हँस पड़ते सुविज्ञजन,
ठहाके लगा-लगाकर,
मुझ अज्ञकी अज्ञतापर !

* * *

चल-चलकर,
मन-चाबीके बलपर,
चकित-चमत्कृत करता,
लुभा रहा था जग-खिलौना ।
जान यथार्थता चमत्कारकी,
मन-चाबीको कर जाम,
परे फेंक कर खिलौना,
खो गया मैं अपनेमें
और हुआ तब
चमत्कारोंका चमत्कार ।
हो गया मैं नहीं,
जो 'है' है ।
मुसकरा रहा था अब अज्ञ कोई—
मीठी, गूढ़, छुपी-सी मुसकान,
चकित-विस्मित-से सुविज्ञजनोंपर ।

भक्त जलारामजी

[भक्त-गाथा]

(लेखक—शास्त्री श्रीमंगलजी उद्धवजी पुरोहित)

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महाजनाः ॥

'गङ्गा पाप, चन्द्रमा संताप तथा कल्पवृक्ष दरिद्रताका नाश करते हैं अर्थात् ये सभी एक-एक विषयके नाशक हैं; परंतु संत महापुरुष पाप, ताप और दारिद्रय—तीनोंका एक साथ ही विनाश कर देते हैं ।'

ऐसे सत्पुरुष इस कराल कलिकालमें भी हैं । भक्त, महात्मा और ज्ञानीजनोंका उद्गम-स्थान यह आर्यावर्त्त कभी इनसे सर्वथा खाली नहीं हो सकता । आज हम जिन वीतराग भक्तका चरित्र-चित्रण करने जा रहे हैं, इनका जन्म सौराष्ट्र-देशके वीरपुर गाँवमें हुआ था । ये लोहाणा क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए थे । इनके पिताका नाम था—प्रधान और माताका राजबाई । दम्पतिके बड़े पुत्रका नाम बोघाभाई था । प्रथम पुत्रके जन्मसे पाँच वर्ष पश्चात् ठाकुरके गृहमें एक महात्मा अतिथि आये । प्रधान ठाकुरने उन महात्माका यथोचित आतिथ्य किया । महात्माने प्रसन्न होकर ठाकुरसे वरदान माँगनेको कहा । ठाकुरने वरदान-रूपमें अपने वंशमें भी महात्माओंकी सेवा करनेवाला एक पुत्र माँगा । महात्मा प्रसन्नचित्तसे 'तथास्तु' कहकर यात्रार्थ निकल गये ।

सत्पुरुषोंके वचन अन्यथा नहीं होते । प्रभुकी लीला अवर्णनीय है । वि० संवत् १८५३की कार्तिक शुक्ला सप्तमी, सोमवारको राजबाईके उदरसे एक पुत्ररत्नका जन्म हुआ । इनका नाम जलाराम रखा गया । बाल्यकालसे ही जलारामजी तेजस्वी थे । पुत्रके ऊपर माता-पिताका अत्यधिक प्रेम था । भक्त जलारामजी बचपनसे ही सदाचार-पालन, सत्पुरुषोंकी सेवा, सत्सङ्ग-सेवन और नाम-जपमें रुचि रखते थे ।

थोड़े ही समय बाद जलारामजीके माता-पिता परलोक-वासी हो गये । अब जलारामजीके पोषकवर्गमें केवल बालाजी नामक एक चाचा ही थे । उनके कोई पुत्र न था, इसलिये उन्होंने जलारामजीको अपने साथ रख लिया । चाचाने जलारामजीको दूकानका काम सौंप रखा था, अतएव वे भगवच्चिन्तनपरायण होकर दूकानका काम करते हुए ही भगवत्सेवा भी किया करते । 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'—गीताका यह मन्त्र उनके जीवनका आदर्श था । इस कारण बालसूर्यकी किरणोंके समान जलारामजीका सुयश चारों ओर फैलने लगा ।

एक दिनकी बात है, प्रातःकालका समय था । ब्राह्मण शिवालयमें वेद-मन्त्रोंसे पूजन कर रहे थे, भक्तजन हरिनामका उच्चारण कर रहे थे, श्रमिक लोग अपने-अपने कार्यमें व्यस्त थे और वैश्यवर्ग अपनी-अपनी दूकानोंको झाड़ रहा था । इसी समय साधुओंकी एक मण्डली गाँवमें आयी । अच्छे-अच्छे व्यापारियोंसे साधुओंने सीधे (भोजन-सामग्री)की याचना की, परंतु प्रातःकाल होनेके कारण किसीने उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया । बोहनीके समय देनेका नाम किसको सुहाता ! साधु लोग निराश होकर जाने लगे, तभी किसीने उनसे कहा—'महाराज ! इस बाजारमें जलारामकी दूकानपर जाइये । वह भक्तोंकी सेवा किया करता है । यहाँ और कोई आपकी नहीं सुनेगा ।'

अन्ततोगत्वा साधु-मण्डली जलारामजीके यहाँ पहुँची । मण्डलीके मुखियाने पूछा—'जला भगतकी दूकान यही है ?'

'आपके दासकी यही दूकान है, महाराज ! क्या आज्ञा है ?' जलारामजीने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया ।

'जलाराम ! यदि तेरी इच्छा हो तो सब संतोंके लिये सीधा दे दे । हमलोग वृन्दावनसे आ रहे हैं और गिरनारकी यात्रा करने जा रहे हैं । यहाँसे भोजन करके चलनेका विचार है ।' संतने कहा ।

साधु-महात्माओंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करना तो जलारामजीका नित्यका नियम ही था । इसे देखकर बगलका एक बनिया इनको बड़ी क्रूर दृष्टिसे देखता था और मन-ही-मन कुढ़कर कहा करता—'यह जलिया बाला चाचाकी दूकानका सत्यानाश कर डालेगा ।' आज तो साधुओंकी इस जमातको देखते ही वह और भी जल-भुन गया । जलारामजीने अपने सहज स्वभावके अनुसार साधुओंके लिये आटा, दाल, चावल आदि सामान तौल दिया ।

साधुओंके पास घीका कोई पात्र नहीं था, इसलिये जलारामजीने अपने ही लोटेमें पाँच सेर घी भर दिया और वह घी तथा गुड़ स्वयं उठाकर साधुओंके ठहरनेकी जगह-पर पहुँचानेके लिये चल पड़े। बगलका बनिया यह सब देख रहा था। जलारामजीको जाते देख वह तुरंत बाला चाचाके पास पहुँचा और उन्हें सारा हाल सुनाते हुए उसने कहा—'चाचाजी! जल्दी चलो और देखो, जलिया सारी दूकान साधुओंको लुटाये देता है।'

बाला चाचा शीघ्र ही दूकानकी ओर चल पड़े। मार्गमें ही उनकी भेंट जलारामजीसे हो गयी। चाचाका स्वभाव जलारामजीसे छिपा नहीं था; अतएव उन्हें देखते ही जलरामजी सूख-से गये। उन्होंने मनमें सोचा—'आज चाचाजी अवश्य दण्ड देंगे। खैर, जैसी श्रीरामकी इच्छा।' बाला चाचाके नेत्रोंसे क्रोधके मारे मानो अंगारे झर रहे थे। उन्होंने कड़ककर पूछा—'जलिया! इस धोतीमें क्या जलाया है?'

सत्यवादी जलारामजीके मुखसे मानो किसीने बरबस कहला दिया—'काठके टुकड़ोंके अतिरिक्त और क्या जलाया जाता है, चाचाजी!

'और इस लोटेमें?'

'इसमें जल है।'

चाचाजीने गुड़की गठरी खोलकर देखी तो उसमें सचमुच काठके टुकड़े ही थे और लोटा जलसे भरा था। इस दृश्यको देखकर उस बनिये तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियोंको बड़ा विस्मय हुआ। चाचाजीका क्रोध सर्वथा शान्त हो गया। अब उन्होंने नम्र आवाजमें पूछा—'कहाँ जा रहा है?'

'चाचाजी! इस गाँवके बाहर ठहरी हुई साधु-मण्डलीके लिये यह सामान पहुँचाने जा रहा हूँ।'

'अच्छा' कहकर चाचाजी दूकानपर चले गये और जलारामजी साधुओंके पास पहुँचे। कहना न होगा, साधुओंके पास जानेपर घी और गुड़ अपने मूल स्वरूपमें बदल गये थे। भगवान् क्या नहीं कर सकते! जलारामकी वाणी भी झूठी नहीं हुई और चाचाका संदेह भी दूर हो गया।

इस घटनासे भक्तजीके हृदयमें कितना आनन्द हुआ होगा, इसका अनुमान स्वयं पाठक लगा सकते हैं। सच है, भक्तवत्सल भगवान्‌को अपने भक्तके लिये सब प्रकारकी व्यवस्था करनी पड़ती है। जलारामजी उस दिनसे और भी उत्साहके साथ साधु-सेवा करने लगे।

× × ×

'जलाराम किसका नाम है?' आगन्तुक एक साधुने दूकानदारोंसे प्रश्न किया।

'बगलकी ही दूकान जलारामकी है।' उसी द्वेषी बनियेने उत्तर दिया।

साधु जलारामकी दूकानपर आये। भक्तजीने उन्हें देखते ही नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और पूछा—'क्या आज्ञा है, महाराज!'

'भक्तराज! वस्त्रके बिना दुःख पा रहा हूँ। एक टुकड़ा वस्त्र साफीके लिये दे दें।' साधुने कहा।

जलारामजीने प्रसन्न होकर खादीके थानमेंसे पाँच हाथका एक टुकड़ा फाड़कर दे दिया। साधु बाबा प्रसन्न होकर बाजारमें 'भक्त और भगवान्‌की जय' बोलते हुए चले गये।

दुर्जन स्वयं दुःख उठाकर भी सत्पुरुषोंको बाधा पहुँचानेमें कोई कोर-कसर नहीं रखते। वे सदा इसी चेष्टामें रहते हैं कि कब कोई अवसर हाथ लगे और अपना काम बनाया जाय। आज उस द्वेषी बनियेको फिर मौका मिला। उसने विचार किया—'अब देखें जलिया कौन-सा उपाय करता है! खादीका थान बीस हाथ था। बाला चाचाको प्रत्यक्ष दिखाऊँगा कि इसी तरह यह सब कुछ उड़ा देता है।'

दूसरे दिन बाला चाचा दूकानपर आये। जलारामजी अभीतक साधु-सेवासे निवृत्त नहीं हुए थे। वह बनिया भी आज और दिनोंसे पहले ही दूकानपर आ डटा था। आज उसे अपनी सफलताकी पूरी आशा थी। उसने बाला चाचाको अकेले दूकानपर देखकर कहा—'चाचाजी! आप कभी मेरा कहना नहीं सुनते। आज जरा खादीका थान तो देख लो। ऐसे ही आपका सब कुछ मुफ्तमें चला जाता है।'

तबतक जलारामजी भी आ गये। चाचा वस्त्र नापने लगे। 'यह क्या?' आश्चर्यके साथ चाचाने कहा—'यह थान तो बीस ही हाथका था, अब पचीस हाथ कैसे

हो गया ?' उन्होंने फिर नापा, किंतु वही पचीस-का-पचीस हाथ निकला । उस बनियेने फिर भी दबती जबानसे कहा—'चाचाजी ! चार-पाँच हाथ'''साधुको'''।'

'तू चुप रह, तू मेरे जलियासे द्वेष रखता है । चल यहाँसे ।' बीचमें ही चाचाजी बोल उठे । बनिया चुपचाप चला गया । उसने भक्तिका प्रभाव जाना और उस दिनसे उसने जलारामजीको न सतानेकी प्रतिज्ञा कर ली ।

× × ×

मनुष्य स्वयं कितना ही गुणवान्, बुद्धिमान् और सावधान क्यों न हो, यदि उसकी धर्मपत्नी सद्गुणवती नहीं है तो उसका यश संसारमें उतना नहीं बढ़ सकता । जिस तरह गाड़ीमें दोनों पहियोंको समान और दृढ़ होनेकी आवश्यकता है, उसी तरह गृहस्थी चलानेके लिये स्त्री-पुरुष—दोनोंको योग्य होनेकी आवश्यकता है । ईश्वर-कृपासे जलारामजीकी पत्नी भी उन्हींकी भाँति धार्मिक बुद्धिवाली थीं । उनका नाम था— वीरबाई । वीरबाई स्वभावसे सुशीला और पतिव्रता थीं । जिस तरह भक्तजी श्रीराम-भजनमें मस्त थे, उसी तरह वीरबाई भी भजन और पतिसेवामें लीन रहती थीं ।

कुछ दिनोंसे भक्तजीके मनमें यह चिन्ता हो रही थी कि मेरा बर्ताव चाचाजीको अच्छा नहीं लगता, ऐसी दशामें मैं क्या करूँ ! क्या अलग हो जाऊँ ! किंतु मेरा निर्वाह कैसे होगा ? इसी बीच एक दिन गीताका पाठ करते समय उनकी दृष्टि नवें अध्यायके बाईसवें श्लोकपर पड़ी—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

भक्तजी जाग उठे । सोचने लगे—'हरि ! हरि !! यह क्या ? स्वयं भगवान् ही आज्ञा दे रहे हैं तो फिर मैं क्यों भ्रममें पड़ा हूँ ! क्या प्रभु मेरे आधार नहीं ?' वे रोमाञ्चित हो गये । उनकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे । दूसरे ही दिन जलारामजी बालाजी चाचासे अलग हो गये और निश्चिन्त होकर अन्नदान, साधुसेवा एवं सत्सङ्ग करने लगे ।

जलारामजीने अपने यहाँ एक अन्नसत्र—सदाव्रत खोल दिया, जहाँ अनेकों भूखे नर-नारियोंको भोजन मिलने लगा । उसी समयमें संवत् १९३४का भयंकर अकाल पड़ा था । ऐसे कठिन कालमें भी श्रीहरि-कृपासे वह अन्नसत्र यथावत् चलता ही रहा ।

वि० संवत् १९३७ माघ कृष्णा दशमीके दिन भक्तराज जलारामजीने साकेत-निवास किया । आज भी जनताको ज्ञान देनेके लिये उनकी कीर्तिमयी देह वर्तमान है और आगे भी रहेगी ।

आइये, भगवान्से प्रार्थना करें कि ऐसे संत-महात्मा जगत्के कल्याणके लिये सदा इस पवित्र भारत-भूमिपर अवतरित होते रहें ।

क्षण-भङ्गुर जीवन

(रचयिता—श्रीअख्तर अली खाँ 'समीर')

'अथ' का गौरव गान करें हम,
कब 'इति' की पहचान करें हम,
उड़ जाने पर प्राण-पखेरू, मिट्टी ही मिट्टी यह तन है।
कैसा क्षण-भङ्गुर जीवन है !
रंक और राजा सम हो जाते,
इस पथ पर जिस दिन हैं आते,
शूल-सुमन दोनों को बन्दी, करता झंझा का नर्तन है।
कैसा क्षण-भङ्गुर जीवन है !
घटता जीवन बढ़ती पीड़ा,
प्राणोंसे यम करता क्रीड़ा,
जीवन भर निर्बन्ध रहा जो, बँध जाता वह भावुक मन है।
कैसा क्षण-भङ्गुर जीवन है !

मानसिक तनावका बहिष्करण

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजके सामाजिक और पारिवारिक जीवनमें हमें जितना भावात्मक तनाव और जितनी मानसिक अशान्ति एवं चिन्ता उत्पन्न होती है, उतनी प्राचीन कालमें नहीं होती थी। आज हमारा दैनिक जीवन अत्यन्त जटिल हो गया है, जिससे हमारे मनमें निरन्तर अशान्ति, घबराहट और व्यग्रता बनी रहती है।

हम जिस सभ्य और परिष्कृत जीवनपर अभिमान करते हैं, वह पग-पगपर भाँति-भाँतिकी कठिनाइयोंसे परिपूर्ण है। हम प्रातःकाल उठकर दूध लाने, बाजारसे आवश्यक वस्तुएँ खरीदने, रोजगारकी तैयारी करने, कार्यालय जाने, अपने बच्चोंको माडर्न स्कूल पहुँचाने, बैंकसे रकम निकलवाने, अपने ऋणकी अदायगी करने अथवा कन्याके विवाह, पुत्रके रोजगार-सम्बन्धी अनेकानेक प्रकारकी जिम्मेदारियोंको हल करनेमें भावात्मकरूपसे चिन्तित बने रहते हैं। आधुनिक युगमें खाद्य वस्तुओंकी कमी, बढ़ती हुई आवश्यकताएँ, मँहगाई, सामाजिक टीप-टाप बनाये रखनेकी असफल चेष्टाओं और रोजगारमें आमदनी बनाये रखनेकी घूम-चक्करमें उलझे रहते हैं, इनमें या ऐसी ही अन्य कठिनाइयोंमें फँसे रहनेके कारण हमें मानसिक गिरावटका अनुभव होता है।

गुप्त भय, निरन्तर चिन्ता, मानसिक गिरावट, व्यग्र रहनेकी आदत और मानसिक तनाव हमें अंदर-ही-अंदर खाये डालते हैं। ये आन्तरिक मनोविकार हमारे स्वास्थ्यको नष्ट करनेवाले गुप्त शत्रु हैं। अन्तरमें छिपी हुई हमारी दलित आकाङ्क्षाएँ या गुप्त भय शारीरिक रोग उत्पन्न कर देते हैं। स्थायी सिरदर्द, शरीरमें भारीपन, आलस्य, ऊब, काममें मनका न लगना, संकटको देखकर घबरा जाना, साधारण बीमारीमें व्यग्र हो उठना, पेटके घाव, हृदय-आघात, धड़कन, रक्तचाप और अन्यान्य छोटे-बड़े रोग हमारे मनके भावात्मक तनाव और अंदर बसी हुई जीर्ण चिन्ताके परिणाम हो सकते हैं। सबसे बुरा फल तो यह है कि मनके तनावके कारण हमारे जीवनके उल्लास, उमंग, आशा, उत्साह, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द नष्ट हो जाते हैं। हम व्यर्थ ही निराश हो जाते हैं।

कभी-कभी हमारे पास चिन्ता करनेके लिये कोई ठोस कारण नहीं होता, फिर भी हम चिन्ता करते रहते हैं। हम बिना किसी मुख्य कारणके भी बैठे-बैठे घबराया करते हैं और अपनी अनुचित मानसिक आदतके दास बन जाते हैं।

यदि हम अपनेको दीन-हीन और निर्बल मानकर दुःखी रहने लगे हैं, यदि हम अकारण ही लज्जित या अपने आपको अपराधी अनुभव करते हैं या यह सोचते हैं कि पता नहीं दूसरे हमारे विषयमें क्या सोचते हैं तो उस अवस्थामें यह आवश्यक है कि हम खुलकर समस्त परिस्थितियोंपर प्रत्येक दृष्टि-कोणसे अच्छी तरह सोच-विचार कर लें। अनिर्णयके अन्धकारमें डगमगाते न रहें।

प्रत्येक व्यक्तिको समाजमें अपनी रोजी-रोटी और सामाजिक प्रतिष्ठाके लिये चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं और अनेक समस्याओंसे जूझना पड़ता है। प्रत्येककी सामाजिक और पारिवारिक जिम्मेदारियाँ भी हैं। प्रत्येक व्यक्तिको अपने कुटुम्ब, नौकरी, रोजगार, रिश्तेदार, स्वास्थ्य, उत्तरदायित्व आदिके विषयमें सोचना और उनका हल निकालना आवश्यक होता ही है। पर यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस बातका अन्तर समझ लें कि हमें किन समस्याओंपर अधिक ध्यान देना चाहिये ? वे कौन-सी समस्याएँ हैं, जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है ? हम किन बातोंके लिये निरर्थक ही स्वभावतः व्यग्र हो रहे हैं ? इन्हें नोट कर इन सबके विषयमें अलग-अलग सोचना है कि असली समस्या क्या है ? इस समस्याका मूल कारण

क्या है? इसे हल करनेके क्या-क्या उपाय हो सकते हैं? इन सबमें सर्वोत्तम उपाय क्या हो सकता है? इस समस्याको हल करनेमें हमें किस-किससे सहायता मिल सकती है? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर निश्चित कर लेनेसे हमारी आधी चिन्ता यहीं मिट सकती है। हम अनुभव करेंगे कि हम कई बातोंके लिये निरर्थक ही अधीर हो रहे थे। परिस्थिति वस्तुतः ऐसी विकट नहीं है, जितनी हम उसे समझ बैठे हैं। हम प्रायः अपनी चिन्ताओंका विभाजन न कर उन्हें उलझाये रहते हैं। बिना विचारे हम अनेक चिन्ताओंमें उलझे भटकते रहते हैं, जबकि वास्तवमें कारण छोटे-छोटे होते हैं और उनके हल भी साधारण ही हो सकते हैं। स्पष्ट रूपसे न सोचनेके कारण हम कठिनाइमें भटकते रहते हैं। इसलिये कर्तव्य तो यह है कि हम समस्याओंका विभाजन करें और चिन्ता करनेकी जगह उनका क्रियात्मक हल ढूँढें तथा जो उपाय सम्भव हो सकता हो, उसे तुरंत काममें लाना प्रारम्भ कर दें।

हमारा 'अहं' अति सूक्ष्म, शीघ्र ही प्रभावित या कुण्ठित हो जानेवाला एक ऐसा नाजुक पौधा है, जो तनिक-सी विरोधी परिस्थिति या कटु व्यवहारसे एकाएक आक्रान्त होने लगता है। सम्भव है कि हम अति-भावुकता रूप मानसिक निर्बलताके रोगी हैं। अपने विरुद्ध तनिक-सी कटु आलोचना, विरोध, गाली या अभद्र बात सुनते ही हम अस्त-व्यस्त हो उठते हैं। स्वयं अपनेपर अविश्वास करने लगते हैं और थोड़ी-सी हानिकी बातसे मनका संतुलन खो बैठते हैं। हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि हमारे भावात्मक तनावका कारण बाहरी परिस्थितियोंमें या समाजद्वारा की गयी कटु आलोचनामें नहीं; अपितु स्वयं हमारे मनकी अति-भावुकतामें विद्यमान है। हमारे आत्मविश्वासकी कमी ही हमारी कठिनाइयोंकी जड़ है। हमारा अपना अपरिपक्व दृष्टिकोण—किसी परिस्थितिपर हमारी शीघ्रतापूर्ण प्रतिक्रिया ही हमें उलझनमें डालती है। हम स्वयं साधारण बातों या घटनाओंको बिना गहराईसे अनुभव किये धैर्य खो बैठते हैं। किस घटना, बात या आलोचनाको कितनी गहराईसे या ऊपरी सतहतक ही अनुभव करें, यह स्वयं हमें सोचना होगा ही। हम चाहें तो विवेक-बुद्धिसे अनुशासित होकर अपनी अति-भावुकताका स्वभाव बदल सकते हैं, मनमें अनुभवकी तीव्रता कम कर सकते हैं और इस प्रकार अति-भावुकतासे बच सकते हैं।

कुछ व्यक्ति अपनी शीघ्रताकी आदतके कारण चिन्तित हो जाते हैं। वे हर कामको तुरंत ही कर डालना चाहते हैं। हर समस्याको एकदम सुलझा देना चाहते हैं। यह प्रायः सम्भव नहीं है कि सब समस्याएँ एकदम सुलझ जायँ। बहुत-सी कठिनाइयाँ समय आनेपर स्वयं ही हल हो जाती हैं। अतः जो पेंचीदा निर्णय कलके लिये रोका जा सकता है, उसके लिये आज ही उतावलीमें आकर शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। कुछ ठहरनेसे ऐसा अन्तःप्रकाश दिखायी दे सकता है, जिसमें यह तय हो सकता है कि क्या करना अच्छा होगा? समय स्वयं ही हल निकाल लेता है।

तीव्र आवेगोंसे प्रभावित नहीं होना चाहिये। भावुक और अति संवेदनशील व्यक्ति सबसे भयानक होते हैं। वे तीव्र मनोविकारों (क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, वासना, हिंसात्मक विचार) के वशीभूत होकर दूसरोंकी या अपनी हत्यातक कर सकते हैं। उत्तेजित अवस्थामें ऐसा मस्तिष्क बड़ा भयानक बन जाता है। अतः राक्षसी मनोविकारोंको शान्ति और धैर्यसे अपने वशमें रखना चाहिये।

रचनात्मक कार्योंमें व्यस्त रहकर मनके तनावको दूर करना चाहिये। अधिकाधिक कार्य चिन्ताको मनसे निकालनेकी सर्वोत्तम औषध है। छोटी-छोटी समस्याओंपर व्यग्र नहीं होना चाहिये। इन क्षुद्र बातोंसे अपने आनन्दको नष्ट नहीं करना है। जो अवश्यम्भावी है, जिसको किसी भी अवस्थामें रोका नहीं जा सकता, उसे ईश्वरकी इच्छा मानकर शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये।

आदर्श मित्र

(लेखक—श्रीबालजी गोविन्दजी देसाई)

माहिष्मक राष्ट्रके सकुल नगरमें सकुल-नामक एक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। नगरके पास ही एक पारधी रहता था, जो पक्षियोंको जालमें फँसाकर तथा नगरमें बेचकर अपनी जीविका चलाता था। नगरके पास बारह योजन विस्तारवाला मानस-नामक एक सरोवर था, जिसमें पाँच रंगके कमल उगते थे। वहाँ विभिन्न प्रकारके पक्षियोंके दल आया करते, इसलिये पारधी वहीं अपना जाल बिछाता था। उस समय सरसहंसके परिवारका राजा हंसराज चित्रकूटपर्वतपर सुवर्ण-गुहामें रहता था। एक दिन कुछ सुवर्ण-हंसोंने मानस-सरोवरपर आकर स्वेच्छासे चारा-पानी किया और चित्रकूट लौटकर हंसराजसे कहा—'महाराज ! मानस-सरोवरमें बहुत अच्छा चारा है, आपको वहाँ चलना चाहिये।'

'मनुष्यका समागम पक्षियोंके लिये परिणाममें हितकारी नहीं होता, इसलिये मेरा मन वहाँ जानेका नहीं होता, फिर भी तुम्हारा बहुत मन हो तो चलो, एक बार वह रस भी चख लिया जाय।' यों कहकर हंसराज परिवार-सहित सरोवरकी ओर चल पड़ा।

ज्यों ही हंसराज आकाशसे सरोवरके सामने उतरने लगा, त्यों ही उसका पैर जालमें आ गया। उसने पैर खींचना चाहा, ऐसा करते पैरकी चमड़ी छिल गयी, खून निकल आया, वेदना हुई, परंतु पैर नहीं निकला।

हंसराजने सोचा—अभी चीत्कार करूँगा तो सारा समाज डरकर बिना ही चारा किये भूखे पेट भागेगा और अशक्तिके कारण सरोवरमें गिर पड़ेगा; इसलिये उसने चुपचाप पीड़ा सहन की। जब सब लोग चुग चुके, तब उसने धीरेसे अपने बन्धनकी बात कही। उसे सुनकर मृत्युके डरसे हंस-दल चित्रकूटकी ओर उड़ चला।

सब भागे, पर हंसोंका सेनापति सुमुख नहीं भागा। 'महाराजपर कोई विपत्ति तो नहीं आ गयी ?' यों तर्क-वितर्क करता हुआ वह हंसराजको ढूँढ़ने लगा। उसने देखा कि हंसराज जालमें फँसे हैं, शरीर लहू-लुहान हो रहा है, पीड़ा सह रहे हैं और कीचड़में चित पड़े हैं।

सुमुखने हंसराजसे कहा—'महाराज ! डरियेगा नहीं, मैं अपने प्राण देकर भी आपको फंदेसे छुड़ाऊँगा।' यों कहकर वह नीचे उतरा, राजाको आश्वासन देने लगा और कीचड़में बैठ गया।

हंसराज—हे सुवणवर्ण सुमुख ! ये हंस खा-पीकर भागे जा रहे हैं, तू भी सुखपूर्वक चला जा। फंदेमें पड़े हुए मुझको अकेला छोड़कर सगे-सम्बन्धी निश्चिन्त चले जा रहे हैं, तू अकेला यहाँ क्यों पीछे रह गया ? हे पक्षिश्रेष्ठ ! उड़ जा, जालमें फँसे हुएके साथ प्रीति कैसी ? अवसर न चूक, चला जा।

सुमुख—मैं जाऊँ या न जाऊँ, पर ऐसी बात तो है नहीं कि मैं अमर रहूँगा। आज भाग जाऊँ तो क्या इससे यमराज मुझे छोड़ थोड़े ही देंगे ? अच्छे दिनोंमें मैंने आपकी सेवा की, नमक खाया, अब दुःखके दिनोंमें मैं आपको छोड़ कैसे दूँ ? कैसा भी दुःख क्यों न आ पड़े, परंतु मैं आपको छोड़ नहीं सकता। मेरा जीना-मरना या जो कुछ भी होगा, आपके साथ ही होगा। आपके साथ मरना अथवा आपके बिना जीना—इन दोनोंमें आपके साथ मरना मेरे लिये अधिक प्रिय और सुखकर है। इस दशामें आपका त्याग करना धर्म नहीं है। हे पक्षिराज ! जो गति आपकी हो, वही मेरी हो, यही मेरी अभिलाषा है।

हंसराज—मैं तो रँधनेके लिये ही जालमें पड़ा हूँ, मेरी दूसरी क्या गति होगी ? पर तू तो खतन्त्र है, समझदार है, तुझे ऐसी गति क्योंकर अच्छी लगती है ! तू कदाचित् मेरे साथ मर जायगा, इसमें तेरा या मेरा क्या भला होगा ? हम दोनों मर जायँगे तो इससे हंसमात्रको क्या लाभ होगा ?

सुमुख—महाराज ! धर्मसे खतन्त्र अर्थ कोई पदार्थ ही नहीं है, धर्मके उपासकको अर्थ तो आप ही आ मिलता है। मुझे धर्मकी अपेक्षा है और धर्मसे ही अर्थकी उत्पत्ति होती है, अतएव आपके प्रति भक्ति होनेके कारण प्राण देना तो मेरे लिये तुच्छ-सी बात है। प्राण बचानेके लिये भी मित्रका आपत्तिमें त्याग न करना सज्जनोंका धर्म है।

हंसराज—तूने अपने धर्मका यथार्थ पालन किया, मुझपर तेरा स्नेह है, इसको मैंने जान लिया। अब तू मेरी एक बात मान ले और यहाँसे चला जा। तू बुद्धिमान् है, इसलिये सम्भव है, अगले ही दिन मेरे स्थानकी यथायोग्य पूर्ति करेगा।

यह सुन्दर बातचीत हो ही रही थी कि जैसे रोगीके पास यमराज आ जाय, वैसे ही इन पक्षियोंके पास पारधी आ पहुँचा। उसने देखा कि एक हंस तो जालमें फँसा है और दूसरा खतन्त्र है; परंतु फँसे मित्रका पहरा दे रहा है। खतन्त्र हंसको सम्बोधन करके पारधीने कहा—'यह हंस तो जालमें फँसा है, भाग नहीं सकता, यह तो ठीक; परंतु तू तो खतन्त्र है, बलवान् है, फिर भी भागता क्यों नहीं ? यह पक्षी तेरा कौन होता है ? सारे पक्षी भाग गये हैं, परंतु तू खतन्त्र होकर भी नहीं भागा और इस पकड़े गये पक्षीके पास अकेला बैठा है, इसका क्या कारण है ?'

सुमुखने उत्तर दिया—'हे पक्षिशत्रो ! यह मेरा राजा और प्राणके समान प्रिय सखा है, इसे मैं मरण-पर्यन्त नहीं छोड़ूँगा।'

सुमुखने पारधीके साथ बातचीत आरम्भ कर दी। पारधीने कहा—'तेरे राजाने जालको क्यों नहीं देखा ?' सुमुखने कहा—'विनाशकाल उपस्थित होनेपर प्राणीको कुछ नहीं सूझता,' आदि बातोंद्वारा सुमुखने पारधीका हृदय द्रवित कर दिया। तदनन्तर उसने कहा—'तुम्हारे साथ सम्भाषण हुआ, इसका तो अच्छा ही फल होना चाहिये न ? अब तुम हमलोगोंको जीवनदान दो, घर जाने दो।'

सुमुखकी मधुर वाणीसे मुग्ध हुए पारधीने कहा—'तू न तो जालमें फँसा है और न तुझे मैं मारना ही चाहता हूँ, तू अपने इच्छानुसार तुरंत चला जा और दीर्घजीवी हो।'

सुमुख बोला—'मेरा यह मित्र मरता हो तो मुझे जीना नहीं है। तुम्हारी एकसे तृप्ति हो तो तुम इसे छोड़कर मुझे खा लो। लंबाई, चौड़ाई और आयुमें हम दोनों समान ही हैं, इसके बदले मुझे लेनेमें तुम्हें कोई हानि नहीं होगी। पहले पाशसे मुझे बाँध लो और फिर हंसराजको छोड़ दो।'

सुमुखकी बातें सुनकर पारधीका हृदय दयार्द्र हो गया और उसने हंसराजको बन्धनसे मुक्त करते हुए सुमुखसे कहा—'तेरे-जैसे मित्र किसी विरलेके ही भाग्यमें होंगे, जो मित्रके दुःख-जैसा ही दुःख भोगनेको तत्पर हो। तू अपने मित्रके लिये प्राण त्याग करनेको तैयार हो गया, इसीसे मैं तेरे मित्रको छोड़ देता हूँ, यह हंसराज तेरे साथ तुरंत हर्षपूर्वक जाय, खाये, पीये और राज करे।'

सुमुखने कहा—'अपने राजाको मुक्त देखकर आज जैसे मैं आनन्दित हुआ हूँ, वैसे ही हे पारधी ! तुम अपने परिवारसहित आनन्दका उपभोग करो।'

(कथाकुसुमाञ्जलिसे)

दान-विमर्श

(लेखक—पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल, शास्त्री, साहित्यकेसरी)

सनातन-धर्मके सम्पूर्ण अङ्गोंमें दानका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शास्त्रोंमें दानपर विशेष बल दिया गया है। 'दान' शब्द 'दा' धातुसे 'ल्युट्' प्रत्ययका संयोग होनेपर निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होता है—देना, सौंपना या हवाले कर देना। परंतु स्मरण रहे—किसीको कोई वस्तु देकर पुनः उसे वापस ले लेना 'दान'के अन्तर्गत नहीं आता; क्योंकि 'दान'की परिभाषा शास्त्रोंमें यों बतलायी गयी है—'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्'—अपना अधिकार निवारण-पूर्वक दूसरेका अधिकार स्थापित कर देना 'दान' है।

दान दुष्कर कार्य है। लोगोंको धनका लोभ अधिक होता है और धन मिलता भी बड़े कष्टसे है। अतः दुःख सहकर कमाये हुए धनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। इसलिये सभी धर्मोंमें दान ही सर्वश्रेष्ठ है। शास्त्रोंमें धनकी तीन गतियोंका वर्णन मिलता है, उनमें दान सर्वप्रथम है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

'धनकी दान, भोग और नाश—ये तीन गतियाँ होती हैं। जो न देता है, न भोग करता है, उसकी तीसरी गति (नाश) होती है।'

जब तीसरी गति अनिवार्य है तो मनुष्यका कर्तव्य है कि वह दूसरी और पहली गतिका आश्रय ले। उनमें भी दूसरी गति स्वार्थपरक है और पहली परमार्थपरक। जिस धनका भोग करके शरीरको सुख पहुँचाया जाता है, वह शरीर-नाशके साथ ही नष्ट हो जाता है; अतः निष्फल ही है। इससे सिद्ध हुआ कि दान किया हुआ धन ही सार्थक है। मनुष्यको जिस-किसी प्रकारसे भी दान-धर्मका पालन करना चाहिये। कलियुगके लिये तो यह महान् साधन है। इसका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी त्यागके प्रसङ्गमें दानका त्याग नहीं करना चाहिये, इसपर विशेष बल दिया गया है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८। ५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं, प्रत्युत वे तो अवश्यकर्तव्य हैं; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही मनीषी पुरुषोंको पावन बनानेवाले हैं।'

गुण-भेदसे दान सात्त्विक, राजस, तामस—यों तीन प्रकारका बतलाया गया है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १७। २०–२२)

'दान देना ही कर्तव्य है'—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान 'सात्त्विक' कहा गया है; किंतु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फल-प्राप्तिके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह दान 'राजस' कहा गया है। जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान 'तामस' कहा गया है।'

महाभारतके अनुसार दानके तीन भेद इस प्रकार हैं—

अभिगम्य च तद् तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम्।
याचितेन यद् दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः॥

अवज्ञया दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः॥
(शान्तिपर्व २९२ । १८-१९)

'(स्वयं ही ब्राह्मणके) पास जाकर उसे संतुष्ट करते हुए जो दान दिया जाता है, उसे प्रशस्त—उत्तम माना गया है और याचना करनेपर जो कुछ दिया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष मध्यम श्रेणीका दान कहते हैं। अवहेलना अथवा अश्रद्धासे जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियोंने अधम श्रेणीका दान कहा है।'

उपयुक्त पात्रके प्राप्त होनेपर उसे श्रद्धापूर्वक जो धन अर्पित किया जाता है, वही वास्तविक दान कहा जाता है। इस दानके चार भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और सम्पूर्ण दानोंमें सर्वोत्तम विमल। निम्नाङ्कित श्लोकोंमें इनका स्वरूपनिर्देश इस प्रकार किया गया है—

अहन्यहनि यत्किंचिद् दीयतेऽनुपकारिणे।
अनुद्दिश्य फलं तस्माद् ब्राह्मणाय तु नित्यकम्॥
यत्तु पापोपशान्त्यर्थं दीयते विदुषां करे।
नैमित्तिकं तदुद्दिष्टं दानं सद्भिरनुष्ठितम्॥
अपत्यविजयैश्वर्यस्वर्गार्थं यत् प्रदीयते।
दानं तत् काम्यमाख्यातमृषिभिर्धर्मचिन्तकैः॥
यदीश्वरप्रीणनार्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते।
चेतसा धर्मयुक्तेन दानं तद् विमलं शिवम्॥
(कूर्मपुराण, उत्तरार्ध २६ । ५-८)

'प्रतिदिन अपने प्रति उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको जो कुछ दिया जाता है और उससे फलकी आशा नहीं की जाती, उसे 'नित्य' दान कहते हैं। पापोंकी शान्तिके लिये जो विद्वानोंके हाथमें दिया जाता है, वह सत्पुरुषोंद्वारा अनुष्ठित दान 'नैमित्तिक' कहा जाता है। अपत्य (संतान), विजय, ऐश्वर्य अथवा स्वर्गप्राप्तिके लिये जो दान दिया जाता है, उसे धर्मचिन्तक ऋषियोंने 'काम्य' नामसे अभिहित किया है। जो ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिये धर्मयुक्त चित्तसे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंको दिया जाता है, वह कल्याणकारी दान 'विमल' कहलाता है।'

मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक दान-धर्मका पालन करना चाहिये; क्योंकि सुपात्रके प्राप्त होनेपर शक्तिके अनुसार उसे दान देनेसे ऐसे फलकी प्राप्ति होती है, जो दाताका सब तरहसे उद्धार कर देता है। विभिन्न वस्तुओंके दानके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं और उनके फलमें भी भिन्नता होती है। ऐसे दानोंमें कुछ दान महादान कहलाते हैं, जैसे पृथ्वी-दान, गो-दान, स्वर्ण-दान, कन्या-दान आदि। इन महादानोंसे भी बढ़कर एक सर्वोत्कृष्ट दान होता है, जिसमें सर्वस्व दान कर दिया जाता है। ऐसे सर्वस्वदानी चक्रवर्ती सम्राटोंकी गाथाएँ हिंदू-धर्मशास्त्रोंमें भरी पड़ी हैं।

उससे भी बढ़कर अभय-दान है। वह दो प्रकारका होता है—एक लौकिक अर्थात् शरीरकी रक्षा करना और दूसरा पारलौकिक अर्थात् जन्म-मरणसे रहित करना।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो गया कि दानधर्म देवोंसे लेकर मानवोंतक सर्वत्र मान्य है। कलियुगमें जिस किसी भी प्रकारसे दिया गया दान कल्याणकारी होता है। इसमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके वचन प्रमाण हैं—

जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥'
(मानस १०३ ख)

अतः मानवमात्रको दान-धर्मका अवश्य पालन करना चाहिये।'

साधकोंके प्रति—

[तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः]

बुढ़ापा आ गया, इन्द्रियोंकी शक्ति जाती रही, सब तरहसे दूसरोंके मुखकी ओर ताकना पड़ता है; परंतु तृष्णा नहीं मिटी। 'कुछ और जी लूँ, बच्चोंके लिये कुछ और कर जाऊँ, दवा लेकर जरा पुष्ट होऊँ तो संसारका कुछ सुख और भोग लूँ। मरना तो है ही, परंतु मेरे सामने लड़केका विवाह हो जाय तो अच्छी बात है। दूकानका काम बच्चे ठीकसे सँभाल लें, इतना-सा उन्हें और ज्ञान हो जाय।' ऐसी बातें करते बहुत-से वृद्ध पुरुष देखे जाते हैं।

मेरे एक परिचित वृद्ध सज्जन, जो लगभग करोड़पति माने जाते हैं और जिनके नवयुवक पौत्रकी भी संतान विद्यमान है, एक बार बहुत बीमार पड़े। उनके बचनेकी आशा न थी। बड़ी दौड़-धूप की गयी, भाग्यवश उस समय उनके प्राण बच गये। मैं उनसे मिलने गया। मैंने शरीरका हाल पूछकर उनसे कहा—'अब आपको संसारकी चिन्ता छोड़कर भगवद्भजनमें मन लगाना चाहिये। इस बीमारीमें आपके मरनेकी नौबत आ गयी थी, भगवत्कृपासे आप बच गये हैं। अब तो जितने दिन आपका शरीर रहे, आपको केवल भगवान्का भजन ही करना चाहिये।' वे बोले—'आपका कहना तो ठीक ही है, परंतु लड़का अभी इतना चतुर नहीं है। पाँच वर्ष में और जीवित रहूँ तो घरको कुछ ठीक कर जाऊँ, लड़का भी कुछ और समझने लगे। मरना तो है ही। क्या करूँ? भजन तो होता नहीं।' मैंने फिर कहा—'अब आपको घर क्या ठीक करना है? परमात्माकी कृपासे आपके घरमें पर्याप्त धन है। आपके लड़के भी बुड्ढे हो चले हैं। मान लीजिये, अभी आप मर जाते तो पीछेसे घरको ठीक कौन करता?' उन्होंने उत्तर दिया—'यह तो मैं भी जानता हूँ, परंतु तृष्णा नहीं छूटती।' इस दृष्टान्तसे पता लगता है कि तृष्णा किस प्रकार मनुष्यको घेरे रहती है। ज्यों-ज्यों कामनाकी पूर्ति होती है, त्यों-ही-त्यों तृष्णाकी जलन बढ़ती चली जाती है—

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्राह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं पुनः पुनरहो आशावधिं को गतः॥

'जिसके पास कुछ भी नहीं होता, वह चाहता है कि मेरे पास सौ रुपये हो जायँ, सौ होनेपर हजारके लिये इच्छा होती है, हजारसे लाख, लाखसे राजाका पद, राजासे इन्द्रका पद, इन्द्र होनेपर ब्रह्माका पद पानेकी इच्छा होती है और ब्रह्मा होनेपर विष्णुपदकी कामना होती है। इस तरह तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, इसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती।'

एक सज्जन मुझसे कहा करते हैं कि 'जब मैं निर्धन था, तब यह इच्छा होती थी कि बीस हजार रुपये मेरे पास हो जायँगे तो मैं केवल भगवान्का भजन ही करूँगा, परंतु इस समय मेरे पास लाखों रुपये हैं, वृद्धावस्था हो चली है, किंतु धनकी तृष्णा किसी-न-किसी रूपमें बनी ही है।' यही तो तृष्णाका स्वरूप है।

जगत्के सुख-भोगोंकी तृष्णाने ही लोगोंको भगवान्से विमुख कर रखा है। यह पिशाचिनी किसी भी कालमें भगवच्चिन्तनके लिये मनका पिण्ड नहीं छोड़ती। सदा-सर्वदा सिरपर सवार ही रहती है। रेलमें, मोटरमें, गाड़ीमें, जहाजमें, दूकानमें, घरमें, बाजारमें, वनमें, सभामें और समारोहमें—सभी जगह यह साथ रहती है। इसीसे मनुष्य दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥

'संसारमें जितने दुःख हैं, उन सबमें तृष्णा ही सबसे अधिक दुःखदायिनी है। जो कभी घरसे बाहर भी नहीं निकलता, उसे भी तृष्णा बड़े संकटमें डाल देती है।'

भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम्।
खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी॥

'तृष्णा घोर अन्धकारमयी कालरात्रिकी तरह धीर पुरुषको भी भयभीत कर देती है, चक्षुयुक्तको भी अन्धा बना देती है और आनन्दपूर्ण शान्तको भी खेद-युक्त कर देती है।'

विषय-तृष्णामें मतवाले मनुष्योंकी असफलताका दिग्दर्शन कराते हुए महाराज भर्तृहरि पुकारते हैं—

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरिताम्पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने क्षपाः
सम्प्राप्तश्च वराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्॥

(वैराग्यशतक ४)

धनकी तृष्णाने क्या-क्या काम नहीं कराये—

खोदत डोल्यो भूमि, गड़ीहु न पाई सम्पति।
धौंकत रह्यो पखान, कणकके लोभ लगी मति॥
गयो सिन्धुके पास, तहाँ मुक्ताहु न पायो।
कौड़ी कर नहिं लगी, नृपनको शीश नवायो॥
साधे प्रयोग श्मशानमें, भूत-प्रेत-वैताल सजि।
कितहूँ भयो न वाँछित कछू, अब तो तृष्णा मोहि तजि॥

'गड़े धनके लिये जमीनका तला खोद डाला, रसायन-के लिये धातुएँ फूँकीं, मोतियोंके लिये समुद्रकी थाह ली, राजाओंको संतुष्ट रखनेमें बड़ा यत्न किया, मन्त्र-सिद्धिके लिये रातों श्मशान जगाया और एकाग्र होकर बैठा हुआ जप करता रहा; पर खेद है, कहींपर भी मुझे एक फूटी कौड़ी भी हाथ न लगी। इसलिये हे तृष्णे! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़।'

फिर कहते हैं—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशङ्कया काकवत्
तृष्णे दुर्मतिपापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यसि॥

(वैराग्यशतक ५)

भटक्यो देश-विदेश, तहाँ कछु फलहु न पायो।
निज कुलको अभिमान छोड़ सेवा चित लायो॥
सही गारि अरु खीझ हाथ झारत घर आयो।
दूर करतहूँ दौरि, स्वान जिमि परघर खायो॥
इहि भाँति नचायो मोहि तैं वहकायो दै लोभ तल।
अबहुँ न तोहि संतोष कछु, तृष्णा! तू पापिनि प्रबल॥

तृष्णासे ही इतनी लाञ्छना, इतना अपमान तथा दुःख सहन करना पड़ता है। एक दुःखके बाद नया दुःख आनेमें तृष्णा ही प्रधान कारण होती है। मनुष्य किसी भी अवस्थामें संतोष नहीं करता, इसीलिये बारंबार उसकी स्थिति बदलती रहती है। तृष्णाके मारे भटकते-भटकते सारी आयु बीत जाती है, अन्तमें वह जैसे-का-तैसा रह जाता है, पीछे हाथ मल-मलकर पछतानेसे भी कोई लाभ नहीं होता।

यदि भाग्यवश धन प्राप्त हो जाता है तो भी तृष्णा उसका कुछ विशेष सदुपयोग नहीं होने देती, सारी आयु बातोंमें ही बीत जाती है।

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको भोगोंकी तृष्णासे मुख मोड़कर परमात्माके लिये तृषित होना चाहिये। भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती—'**बुझै न काम अगिनि तुलसी बहु विषय-भोग अरु घी तें**'—अग्निमें घी डालते जाइये, वह और भी धधकेगी, यही दशा कामनाकी है। उसे बुझाना हो तो संतोष रूप शीतल जल डालिये। धन तो वही असली है, जिससे मनुष्यको सुख मिलता है। ऐसा धन संतोष है—'**संतोषः परमं धनम्।**' ऐसे अनेक करोड़पति देखे जाते हैं, जो तृष्णाके फेरमें पड़े हुए असंतोष और अतृप्तिकी तीव्रतम आगसे जल रहे हैं। उनके अन्तःकरणमें क्षणभरके लिये भी शान्ति नहीं होती, इसीलिये तो वे महान् दुःखी रहते हैं—

'**अशान्तस्य कुतः सुखम्।**' (गीता २।६६)

न्यायसे धन कमाने और उसका सदुपयोग करनेकी मनाही नहीं है, परंतु धनकी तृष्णासे उन्मत्त होनेकी

आवश्यकता नहीं। इसलिये शास्त्रोंमें इसके लिये एक मर्यादा बतायी गयी है; क्योंकि धनमें बड़ी मादकता होती है, धन-मद सबसे बड़ा मद होता है। यह मद मनुष्यपर जब चढ़ जाता है, तब उसे अन्धा बना देता है। वह अपने सामने जगत्में किसीको भी बुद्धिमान् नहीं समझता। वे पुरुष धन्य हैं, जो धन होते हुए भी मदहीन और विनम्र हैं; परंतु ऐसे पुरुष संसारमें विरले ही होते हैं। धनकी स्वाभाविक मादकता आये बिना प्रायः रहती नहीं। अतएव साधक पुरुषोंको चाहिये कि वे आजीविकाके लिये उतना ही कार्य करें, जितनेसे उनकी गृहस्थी बड़ी सादगीके साथ साधारण-रूपसे ठीक चलती रहे। धन बटोरकर भोग भोगने या पुण्य कमानेकी इच्छा रखकर धनके लिये तृष्णा न करें, इससे परमार्थ-साधनमें बड़ा विघ्न होता है।

धन कमाना बुरी बात नहीं है, धनकी तृष्णा ही बुरी है। जगत्के किसी भी भोग्य-पदार्थकी तृष्णा मनुष्यको बन्धनमें डाल देती है। तृष्णा हो तो एक प्यारे मनमोहनके मुखकमल-दर्शनकी हो, जिससे त्रिविध तापोंका सदाके लिये नाश हो जाता है, परंतु यह तृष्णा उन्हीं भाग्यवानोंको नसीब होती है, जो भोगोंकी तृष्णाको विषवत् त्याग देते हैं। जो जगत्के आपात-रमणीय पदार्थोंके असली जहरीले रूपको पहचानकर उनसे मुख मोड़ लेते हैं। उन्हींके अन्तःकरणमें भगवच्चरण-दर्शनकी तीव्र पिपासा उत्पन्न होती है। फिर वे पागल हो उठते हैं—उस रूप-माधुरीका दर्शन करनेके लिये। उन्हें दूसरी बात सुहाती ही नहीं। जगत्के विषयीलोग कोई उन्हें पागल समझते हैं तो कोई मूर्ख, कोई निकम्मा समझते हैं तो कोई अशक्त और कोई अविवेकी समझते हैं; परंतु वे अपनी उसी धुनमें इतने मस्त रहते हैं कि निन्दकोंकी ओर ताकनेकी उन्हें फुरसत भी नहीं मिलती। प्यासके मारे जिसके प्राण छटपटाते हों, वह जलको छोड़कर दूसरी ओर कैसे ताकेगा? उसे जबतक जल नहीं मिल जायगा, तबतक जगत्की बातें कैसे सुहायेंगी। वह तो दौड़ेगा वहींपर, जहाँ उसे जल दीखेगा। वह क्या परवाह करेगा निन्दा-स्तुति? जिसके मनमें जो आये, सो कहे, उसे तो अपने काम-से काम। जो जगत्की ओर ताकते हैं, उनकी बात सुनने और उन्हें उत्तर देनेके लिये ठहरते हैं, उन्हें पूरी प्यास नहीं होती, वे प्यासकी अधिकतासे छटपटाते नहीं। इसीलिये उन्हें सुनना, ठहरना और उत्तर देना सूझता है। जिसके प्रभु-दर्शनकी तृष्णा बढ़ जाती है, वह तो उन्मत्त हो जाता है—

लगी है प्यास जोरोंसे ढूँढ़ता हूँ सरोवरको।
सुहाता है नहीं कोई मुझे अब दूसरा कुछ भी॥

जब इतनी तृष्णा बढ़ती है, तब भगवान्का आसन डोल जाता है। उन्हें आना पड़ता है वैकुण्ठ छोड़कर उस रूपके प्यासे मतवाले भक्तको अतुल सौन्दर्य-सुधा पिलाकर सदाके लिये तृप्त और संतुष्ट कर देनेके लिये। भगवान्के इस मनोहर मिलनसे संसारकी समस्त ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं। उनकी जन-मन-हारिणी अनोखी वाणी सुनते ही अविद्याकी बेड़ियाँ पटापट टूट जाती हैं। कर्मोंका बन्धन खुल पड़ता है। अमावस्याकी घोर निशा शरत्पूर्णिमाके अमृतभरे प्रकाशके रूपमें परिणत हो जाती है। धन, मान, कुल, विद्या और वर्णका सारा अभिमान उन प्रियतमके प्रेमकी बाढ़में बह जाता है—मायाका लेन-देन समाप्त हो जाता है। उसके लिये दरवाजा खुल जाता है—उन सर्वत्र अबाधित परमात्माके परम धामका। उसके कोई भी अपना-पराया नहीं रह जाता, सर्वत्र मोहन-की मधुर मुरलीका सुरीला स्वर सुनायी पड़ने लगता है और सर्वत्र दीखने लगता है—केवल परमात्माका अपार विस्तार। ऐसी स्थितिमें वह उन्हींमें अनुरक्त, उन्हींमें तृप्त और उन्हींमें, संतुष्ट रहता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

अमृत-बिन्दु

जिसका चिन्तन किया जायगा, उसीके गुण अपनेमें आयेंगे; अतएव भगवान् और उनके भक्तोंका ही चिन्तन करना चाहिये, जिससे उनके गुण अपनेमें प्रकट हों।

* * *

इच्छा-त्याग ही सर्व-त्यागका मूल है।

* * *

चिन्ता करनेसे बहुत हानि होती है, अतएव 'यदृच्छालाभसंतुष्टः'के सिद्धान्तको अपनाकर जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये।

* * *

संसारमें जो कुछ भी दीखता है, वह केवल पञ्चभूत ही अपने-आपमें वर्त रहे हैं—ऐसा दीखना ही ज्ञान है।

* * *

एक सच्चिदानन्दघनसे भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं—इसीका नाम विज्ञान है।

* * *

नेत्रोंसे जो कुछ दीखता है, वह वास्तवमें है नहीं, बिना हुए ही उसकी प्रतीति होती है; ठीक उसी प्रकार, जैसे आकाशमें तिरवरे दीखते हैं। वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ही सर्वत्र स्थित है।

* * *

आनन्दघनके होनेका ज्ञान भी आनन्दघनको ही है—इस प्रकार हर समय बने रहनेवाले भावको ही ब्रह्माकार-वृत्ति कहते हैं। उपर्युक्त भावसे मन-बुद्धिका अभाव हो जाता है। यह भाव जिससे प्रकाशित होता है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है।

* * *

अपने साथ ईर्ष्या करनेवालेके साथ प्रेम, अपनी बुराई करनेवालेका उपकार और अपने साथ वैर रखनेवालेका भी भला करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

* * *

साधकको चाहिये कि सभीके साथ मित्रताका वर्ताव करे एवं स्वार्थ और मान-बड़ाईका भाव त्यागकर नम्रता धारण करे।

* * *

क्रोध अपने अवगुणोंपर करना चाहिये। दूसरेके अवगुणोंपर तो ध्यान न देना ही उचित है।

* * *

जबतक हृदयमें क्रोध, वैर तथा मान-बड़ाईकी इच्छा विद्यमान है, तबतक निष्कामभाव नहीं है। भजन-सत्सङ्ग होनेपर ही ये सब दोष छूटकर पूर्ण निष्कामभावकी प्राप्ति हो सकती है।



पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रेरणा नहीं थी, वे स्वयं ही थे

भगवान्‌की अहैतुकी कृपा सदैव बरसती रहती है, पर हम उसे देख या समझ नहीं पाते। उन दिनों द्वितीय विश्व-महायुद्ध चल रहा था। मेरे पति डिबरूगढ़ (आसाम)में जंगल-विभागके उच्चपदासीन अधिकारी थे। आसाममें हमलोग एक प्रकारसे मोर्चेपर ही थे। आस-पास बम गिरने आरम्भ हो गये थे। आसामसे बड़े अधिकारियों, चाय-बागीचोंके मैनेजरों (जो अधिकतर अंग्रेज थे) तथा सेठों आदिने अपने परिवारोंको बहुत पहले ही सुरक्षित स्थानोंमें भेजना प्रारम्भ कर दिया था।

संयोगवश मेरा एक भतीजा उन्हीं दिनों उत्तरप्रदेश-से मेरे पास आया। मेरे पतिको अवसर मिल गया, उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं बच्चे और धायको लेकर भतीजेके साथ अपनी माताजी तथा बड़े भाईके पास बनारस चली जाऊँ, साथमें बहुमूल्य वस्तुओंको भी बक्सोंमें अपने साथ लेती जाऊँ। कारण, ऐसी परिस्थिति भी आ सकती थी कि सब कुछ वहीं छोड़कर भागना पड़े। अन्तमें मैंने भतीजेके साथ जाना स्वीकार कर लिया। निश्चित तिथिको हमलोग डिबरूगढ़से रवाना हुए।

जब हमारी ट्रेन 'डीमापुर रोड' पहुँची तो मिलिटरी स्पेशल ट्रेनको 'पास' देनेके लिये हमारी गाड़ी कई घंटोंके लिये खड़ी कर दी गयी। संयोगवश उसी बीचमें साइरन बज गया। हमारे डिब्बेमें एक-दो अंग्रेज महिलाएँ भी थीं। वे इस भयसे कि कहीं बम न गिरने लगे, घबराने तथा चिल्लाने लगीं। मैंने उन्हें धीरज बँधानेकी चेष्टा की। थोड़ी देरमें 'आल क्लियर' (अर्थात् शत्रुओंके हवाई जहाज चले गये)का साइरन भी बज गया, तब सब लोग निश्चिन्त होकर बैठे। ट्रेन अत्यधिक देरके बाद चली। उन दिनों मिलिटरीकी ट्रेनोंको निकालनेके लिये यात्री-गाड़ियोंको रोक दिया जाता था। अतः हमलोगोंकी ट्रेन, जो रातमें आठ-नौ बजेतक गौहाटी पहुँचनी चाहिये थी, रात्रिके एक बजेके लगभग पांडु (गौहाटी) पहुँची। ब्लेकआउटके कारण स्टेशनोंपर भी बल्बोंके ऊपर काले 'शेड' देकर रोशनी हल्की रखी जाती थी। गम्भीर रात्रि, साथमें बहुत सामान और छोटा बच्चा, स्टेशनपर कोई कुली भी दिखायी नहीं दे रहा था। मेरा भतीजा उतरकर कुली खोजने गया—इधर यह भय भी था कि कहीं स्टीमर न चल दे। उन दिनों ब्रह्मपुत्र नदीपर पाट अत्यधिक चौड़ा होनेके कारण पुल नहीं था; अतः स्टीमरसे पार करके ट्रेन पकड़नी पड़ती थी। ब्रह्मपुत्रके गौहाटीकी ओरवाले तटके स्टेशनका नाम पांडु तथा दूसरे तटके स्टेशनका नाम अमीनगाँव था। स्टीमरतक पहुँचनेके लिये पर्याप्त दूरतक बालूमें चलना पड़ता था तथा इसी प्रकार उस ओर भी स्टीमरसे उतरकर बालूपर चलनेके पश्चात् ट्रेन पकड़ी जा सकती थी। अन्धकारमें कुछ करना और भी कठिन था। भतीजेने लौटकर बताया कि बम गिरनेके भयसे लगभग सभी कुली अपने-अपने घरों (जन्मस्थानों)को चले गये हैं। किसी प्रकार एक व्यक्तिकी सहायतासे उसने सामान स्टीमरपर लदवाया और हम सब भी स्टीमरपर चढ़े। स्टीमर दूसरे तटपर पहुँच गया—वहाँ भी वही समस्या—मेरा भतीजा फिर कुलीकी खोजमें गया, परंतु कोई कुली न मिलनेसे उसे लौटनेमें अधिक समय लग गया। पता नहीं ट्रेन कब छूटे—बालूपर चलकर स्टेशन पहुँचनेके लिये भी पर्याप्त समयकी आवश्यकता थी। मैं बच्चे एवं धायके साथ सामानके पास खड़ी हुई यही सब सोच रही थी। अन्य यात्रियोंके पास हल्का सामान था, अतः वे स्वयं ही उठाकर उतर गये। मेरे साथ तो सामान भी कम न था—कई भारी ट्रंक, बिस्तरे तथा अनेकों छोटे सामान—क्या पता था कि स्टेशनोंपर ऐसी कुलीकी समस्या उपस्थित हो जायगी? इतनेमें एक मिलिटरी अधिकारीने मेरे पास आकर कहा—'बहनजी! आप अकेली यहाँ? अभी हमारी प्लैटून (या शायद 'कम्पनी' कहा) आ रही है। कम-से-कम आपका यहाँ अकेले रहना बिल्कुल उचित नहीं। मैं आपका सामान देखता रहूँगा, आप शीघ्र उतरकर अपने भतीजेको सामान ले जानेके लिये भेजिये—आपका यहाँ रहना ठीक नहीं।' यात्राकी कठिनाइयों एवं चिन्ता आदिके कारण मैं अधिक थक गयी थी। अतः उन भाईको धन्यवाद देकर तथा सामानको भगवान्‌के भरोसेपर छोड़, बच्चे तथा धायको

साथ लेकर उतर पड़ी । अँधेरा तथा दूरतक फैला बालूका मैदान सामने था। आगे-आगे मैं तथा पीछे धाय बच्चेको गोदमें लेकर चल रही थी। रात्रिके दो-ढाई बजेका समय—सहसा मैंने देखा कि सामनेसे सैकड़ोंकी संख्यामें सिपाही पङ्क्तिबद्ध चले आ रहे हैं। मुझे समझनेमें देर न लगी कि ये वे ही सिपाही हैं, जिनके विषयमें उन मिलिटरी-अधिकारी भाईने बताया था। देखते-देखते वे लोग समीप आ गये और मेरे दोनों ओरसे मार्च करते हुए आगे बढ़ने लगे—बीचमें एक सँकड़ी गली-सी बन गयी, उसमें मैं चल रही थी। मैं बीचमें और दोनों ओर सिपाहियोंका समूह। वे लोग नीचे हाथ झुलाकर चलनेकी जगह अपने हाथ कमरपर रखकर चलने लगे, जिससे उनकी कोहनी स्थानाभावके कारण मेरे शरीरमें छू जाय। यद्यपि मैं संकटके समय शीघ्र घबराती नहीं हूँ, परंतु उस भीषण परिस्थितिमें मैं घबरा गयी और आँखें अपने-आप आकाशकी ओर उठ गयीं। उसी समय मैंने सामने देखा कि रेल-कर्मचारियोंवाली काली-सी वर्दी पहने एक सज्जन उसी तंग गलीमें शीघ्रतापूर्वक मेरी ओर आ रहे हैं। पास आते ही उन्होंने मुझसे कहा—'अरे, आप अकेली हैं! मेरे पीछे-पीछे चली आइये।' यह कहकर वे मुड़कर मेरे आगे-आगे जगह करते हुए चलने लगे। उनको मेरे साथ देखकर सिपाही लोग फिर हाथ नीचे करके नियमसे चलने लगे।

स्टेशन पहुँचकर उन सज्जनने पूछा—'आपके साथ कौन है, आपको कहाँ जाना है?' मैंने सब बताया। उन्होंने कहा—'आपकी ट्रेन खड़ी है। मैं आपको उसमें बैठाये देता हूँ, (ट्रेन बहुत देर बाद छूटनेवाली थी) उसके बाद आपके भतीजेको खोजकर आपका सामान ले आनेकी चेष्टा करता हूँ।' कहकर उन्होंने हमें एक पहले दर्जेके डिब्बेमें बैठा दिया और नीचेकी दोनों बर्थ दिखाकर कहा—'आपलोग इनपर आरामसे बैठें और दरवाजेको अंदरसे बंद कर लें, किसीको न आने दें।' मैंने शान्तिकी साँस ली तथा सामान और भतीजेके लौटनेकी प्रतीक्षा करने लगी। थोड़ी देर बाद देखती क्या हूँ कि वे सज्जन मेरे भतीजेके साथ आ रहे हैं, साथमें एक व्यक्ति सामान भी ला रहा है। मैंने प्रसन्न होकर दरवाजा खोल दिया। धीरे-धीरे सब सामान भी ठीकसे यथास्थान रखा दिया गया। हमने उन सज्जनको हार्दिक धन्यवाद दिया।

मुझे तनिक भी आशा न थी कि दो बर्थ मिल सकेंगी। उन दिनों लोगोंके आसामसे भागनेकी इतनी भीड़ थी कि बड़े-बड़े सेठ पाँच-पाँच सौ रुपये घूस देकर भी केवल बैठने-भरका स्थान प्राप्त कर सके।

जब तनिक स्वस्थ होकर बैठी तो मैंने अपने भतीजेसे कहा कि इन सज्जनने हमारी अत्यधिक सहायता की है, कम-से-कम 'रेस्ट्राँ' (जलपान-गृह)में ले जाकर उनको जलपान तो करा दो। वह तुरंत उतरकर उनकी खोजमें गया। सारा स्टेशन खोज डाला, किंतु उनका कहीं पता न लगा। प्रातःकाल लगभग चार बजे हमलोगोंकी गाड़ी छूटी। (जैसा कि मैं पहले भी बता चुकी हूँ, उन दिनों ट्रेनोंका कोई निश्चित समय नहीं था।) अधिक समय बाद यह बात मेरे ध्यानमें आयी कि उन सज्जनने इतनी भीड़ तथा अन्धकार-में मुझे कैसे देखा और कैसे जाना कि मैं सिपाहियोंकी भीड़में फँस गयी हूँ? उन्होंने मेरे भतीजेको भी कैसे पहचाना? धन्य है प्रभुकी कृपा, जिसके प्रभावसे हमलोग सामानसहित कुशलपूर्वक बनारस पहुँच गये!

एक बार यह घटना मैंने संत श्रीहरिबाबाजी महाराजको सुनायी तथा अन्तमें उनसे कहा, भगवान्ने प्रेरणा करके उन रेलवे-कर्मचारीको उस संकटके क्षणमें वहाँ भेजनेकी कृपा की। इसपर श्रीहरिबाबाजीने उत्तर दिया 'प्रेरणा नहीं की, वे स्वयं थे।' मैं उनके श्रीमुखसे यह सुनकर गद्गद हो गयी।

—श्रीमती कमला मोहनलाल

(२)

पशुओंमें भी सहृदयता होती है

यह घटना अगस्त १९७५की है, दिनाङ्क ठीक-ठीक स्मरण नहीं। बाल-सूर्यकी स्वर्णिम रश्मियाँ धीरे-धीरे पृथ्वीपर आ रही थीं। मैं डेयरीसे दूध लेने जानेकी तैयारीमें ही था कि एक कुत्तेका चीत्कार रह-रहकर मेरे कानोंमें गूँजने लगा। मैंने खिड़कीमेंसे झाँककर देखा कि मेरे पड़ोसकी कन्याशालाके लोहेके फाटकमें एक कुत्तेकी गर्दन फँस गयी है और वह निकलनेके लिये बुरी तरह छटपटा रहा है।

मुझसे यह नहीं देखा गया, अतः शीघ्रतासे दौड़कर मैं वहाँ पहुँचा तथा उसकी गर्दन उस फाटकमेंसे निकालनेका प्रयत्न करने लगा। फाटकपर लोहेकी जंजीर लगी थी और उसपर ताला लगा हुआ था। फाटकके दोनों भागोंकी दूरीको फैलाने (बढ़ाने)के लिये मैंने उन्हें खींचा, किंतु उसकी गर्दन

नहीं निकल पायी । कुत्तेकी तड़पन बढ़ती ही जा रही थी ।

मोहल्लेवाले भी अपने-अपने दरवाजे और खिड़कियोंमें खड़े होकर यह दृश्य देख रहे थे । दस-पंद्रह मिनटके प्रयत्नके बाद भी जब मुझे कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई, तब मैं हताश हो गया ।

अचानक एक कुत्तेने जो कुछ ही क्षण पूर्व इसी कुत्तेके साथ खेल रहा था, आकर उसके पिछले पैरको अपने मुखमें दबाकर एक झटकेमें उसकी गर्दनको जादूकी तरह उस फाटककी फाँसीसे मुक्त कर दिया ।

एक जानवरद्वारा अपने साथीके प्राण बचानेके लिये किये गये प्रयत्नका चमत्कार देखकर मैं तथा सभी पड़ोसी हर्षसे खिल उठे ।

—श्रीजोगेन्द्रसिंहजी छाबड़ा

(३)

आदर्श शिक्षा

स्वर्गीय राष्ट्रपति महामहिम डॉ० श्रीराजेन्द्रप्रसादजी एक बार कई राज्योंका दौरा करके राँची (बिहार) आये । वहाँ उनके पैरमें पीड़ा होने लगी । पता लगा कि उनके जूतेके तले घिस गये हैं, जिससे काँटी उभड़कर पैरमें गड़ रही है ।

राष्ट्रपतिके शिविरसे 'अहिंसक चर्मालय केन्द्र' दस मील दूर था । उनके सचिव तुरंत उनके लिये नये जूते खरीद लाये । जूते पहनते समय श्रीराजेन्द्रबाबूने उसकी कीमत पूछी तो उत्तर मिला—'उन्नीस रुपये ।' श्रीराजेन्द्र-बाबू विचारमें पड़ गये । थोड़ी देर बाद बोले—'परंतु गत वर्ष मैंने ऐसा जूता ग्यारह रुपयेमें लिया था ।'

सचिवने कहा—'जी हाँ, ग्यारह रुपयेवाला भी वहाँ था, परंतु वह इसकी अपेक्षा हल्का था । यह जोड़ा बहुत मुलायम किस्मका है ।

श्रीराजेन्द्रबाबू यह सुनकर संतुष्ट न हुए और कहने लगे—'यदि ग्यारह रुपयेवाले जूतेसे काम चले तो उन्नीस रुपये क्यों खर्च किये जायँ ? और मेरा पैर तो कड़ा जूता पहननेका आदी है । इसलिये यह जूता वापस करके ग्यारह रुपयेवाला खरीद लाइये ।

सचिव राष्ट्रपतिके स्वभावसे परिचित थे, अतः जूता वापस दे आनेके लिये तैयार हो गये । इतनेमें राष्ट्रपतिने फिर पूछा—'इतनी दूर कैसे जायँगे ?' 'जी, मोटरमें जाऊँगा ।' सचिवका उत्तर था ।

श्रीराजेन्द्रबाबू बोले—'यह ठीक नहीं, जितना रुपया आप जूता खरीदनेमें बचायेंगे, उतना तो पेट्रोलमें खर्च हो जायगा । इसलिये इन जूतोंको यहीं रख दें । हमें यहाँ तीन दिन रहना है । इस बीच वहाँ जानेवाले किसी भी मनुष्यके हाथ इन्हें बदलवा लूँगा ।'　　'अखण्ड आनन्द'

(४)

माँ भगवतीकी अद्भुत कृपा

आजसे लगभग आठ-नौ मास पूर्वकी घटना है । किसी व्यक्तिने मुझे आयुर्वेद-सम्बन्धित एक हस्तलिखित पुस्तक यह कहकर दी थी कि आप इस पुस्तकको पढ़ें, यदि आपके काम-योग्य कोई सामग्री इसमें हो तो अङ्कित कर लें । वह व्यक्ति उस पुस्तकको एक साधारण कपड़ेमें लपेटकर लाया था । उस समय 'विषमज्वर'का अत्यधिक प्रकोप था, रोगियोंकी भीड़ लगी रहती थी; अतः मैंने वह पुस्तक लेकर औषधालयकी एक खुली आलमारीमें रख दी एवं उसे भूलकर चिकित्सा-कार्यमें व्यस्त रहा । कुछ समय पश्चात् औषधालयके एक कर्मचारीने सफाई करते हुए उस पुस्तकको दिखाकर कहा—'यह क्या है ?' मैंने कहा—'भैया ! यह किसी व्यक्तिकी पुस्तक है, इसे व्यवस्थित रूपसे रख दो, देखकर शीघ्र लौटाना है ।'

कुछ दिन बाद वह व्यक्ति, जिसने मुझे पुस्तक पढ़ने-हेतु दी थी, आया और बोला—'पुस्तक तो आपने पढ़ ली होगी, अतः मुझे वापस कर दें ।' मैंने उसी समय उस आलमारीकी ओर देखा, पुस्तक वहाँ न थी । पुस्तक यथास्थान न मिलनेपर मन चिन्तित हो उठा । मैंने उनसे कहा—'सम्भवतः यहाँके कर्मचारीने पुस्तक इधर-उधर रख दी हो, उसके आनेपर पुस्तक आपको दे दी जायगी ।' कर्मचारी उस दिन अवकाशपर था । अवकाश-कालसे लौटनेपर मैंने उससे पूछा—'भैया ! पुस्तक कहाँ है ?' उसने कहा—'मैंने तो पुस्तक उसी स्थानपर रख दी, जहाँसे उठायी थी ।' मैंने उससे पुनः ढूँढ़नेको कहा । उसने वही उत्तर दिया । तब मैंने समझानेकी वाणीमें कहा—'सम्भवतः तुम पढ़ने-हेतु घर ले गये होगे, अतः

घरसे ले आओ।' उसने झल्लाकर कहा—'पुस्तक यहीं रखी थी। मैंने उस दिनके अतिरिक्त हाथ ही नहीं लगाया।' मेरा संदेह इसी व्यक्तिपर था, कारण, मेरे या उसके सिवा अन्य कोई व्यक्ति उस ओर नहीं जाता था, जिधर पुस्तक रखी थी। मैंने समझा, सम्भवतः यह व्यक्ति झूठ बोल रहा है, अतः कहा—'मेरे घरपर जाओ और देखो, सम्भवतः मैंने ही इधर-उधर कहीं रख दी हो।' (यह बात कहनेसे मेरा तात्पर्य था कि यदि वह स्वयं ले गया हो तो चुपचाप लाकर मेरे घरपर रख दे।) उसने ढूँढ़नेकी चेष्टा की। पुस्तक मेरे यहाँ तो थी नहीं; क्योंकि मैं उसे घरपर ले ही नहीं गया था। अतः घरपर देखकर उसने कहा—'पुस्तक आपके घरपर नहीं है।' मैंने साम-दामकी प्रक्रियाद्वारा उसे बहुत समझाया। उसने तो भगवान्‌की शपथ खा ली। अब क्या किया जाय?

इस बीच पुस्तकके स्वामीद्वारा पुस्तक माँगनेका क्रम जारी रहा। अब मैंने कहा—'भैया! पुस्तक मेरे यहाँसे खो गयी।' उन्होंने कहा—'पुस्तक आपने रख ली है, आप देना नहीं चाहते, अतः आप झूठ बोल रहे हैं। पुस्तकपर आपका मन चल गया है, यह अच्छा नहीं है, इसका दुष्परिणाम भोगना होगा।' जिन व्यक्तियोंने यह चर्चा सुनी, उन्होंने मेरे स्वभावको देखकर कहा—'इन्होंने ऐसा नहीं किया होगा। यदि इन्हें पुस्तक अच्छी लगी होती तो ये उसमेंसे आवश्यक सामग्री कहीं अन्य जगह लिखवा सकते थे; क्योंकि पुस्तक चालीस-पचास पृष्ठकी ही तो थी।' परंतु उन्हींमेंसे एक सज्जनने यह भी कहा—'मनुष्यके मनका क्या भरोसा! इनके कार्यसे सम्बन्धित पुस्तक थी, अतः इन्होंने रख ली होगी।' उनका इस प्रकार सोचना स्वाभाविक था।

मैंने पुस्तकको ढूँढ़नेकी बहुत चेष्टा की; किंतु कहीं पुस्तक मिलनेका सूत्र ही दृष्टिगोचर न हुआ। हारकर मनोव्यथा कम करनेके लिये दस-ग्यारह दिनका अवकाश लेकर बाहर चला गया। मेरे अवकाश-कालमें किन्हीं व्यक्तिके प्रेरणावश अथवा स्वयं उसने ही (जिसकी पुस्तक थी) अपने भाई एवं साथियोंकी सहायतासे छुट्टियोंसे लौटनेपर मुझे मारने-पीटनेका षड्यन्त्र रचा। एक दिन अस्पतालमें आकर वे यह भी कह गये कि आपने पुस्तक पाँच सौ रुपयेमें बेच दी है; अतः आपको चौगुनी कीमत दो हजार देना होगा; अन्यथा आपको अङ्गहीन कर दिया जायगा। मेरे मुखसे निकल गया—'हमारा तो राम है, जैसा होगा, सो ठीक।' 'देखेंगे, राम कैसे बचाता है?' यह कहकर वे चले गये। सं० २०३३ गङ्गादशमीके दिन सायं ५ बजेके लगभग जिनका षड्यन्त्र मार-पीटका था, वे व्यक्ति औषधालयके पास बैठे थे। थोड़ी देर बाद जिस व्यक्तिने पुस्तक दी थी, उसने अभद्र शब्दोच्चारणके साथ औषधालयमें प्रवेश किया। संयोगसे वहाँपर उन्हींके समाजके एक प्रतिष्ठित सज्जन एवं अन्य दो और व्यक्ति बैठे थे। उन्होंने उसे इस तरह न बोलनेको कहा। तदुपरान्त पुस्तकके स्वामीका भाई लाठी लेकर मारने-हेतु उद्यत होने लगा। लोगोंने उसे समझाया कि वह ऐसा न करे। सारी परिस्थिति कुछ समयमें ही बन गयी थी। पारस्परिक वाद-विवाद हो रहा था, परंतु मैं मौन था। मेरी भूल मुझे दीख रही थी। अन्तमें उन्हीं प्रतिष्ठित सज्जनने उस समय बातको ठंडी करनेके लिये उनसे कहा—'भैया! इन्हें दस दिनका समय और दिया जाय, तबतक आप शान्त रहें अथवा पुस्तकके झगड़ेको निपटाने-हेतु अन्य उपाय आप बतायें। पुस्तक तो इनके पास नहीं है।' परंतु उन लोगोंने अन्य सभी शर्तें अस्वीकार कर दीं। वे कहने लगे—'हमें तो अब पुस्तक ही लेनी है।' वे सज्जन उन्हें समझाते हुए शान्त करने-हेतु बाहर ले गये। यह बात साढ़े पाँच बजे तक चलती रही।

मैंने ऐसी परिस्थिति कभी नहीं देखी थी। अपनी त्रुटिके कारण अपने आपको कोसता हुआ यह सोचने लगा—'यही बात दस दिन बाद पुनः होगी; क्योंकि पुस्तकका कहीं पता-ठिकाना नहीं था। अतः हारकर औषधालय बंद कर अपने घरपर आया। निराशाके कारण चेहरा श्रान्त-क्लान्त था। मकान खोलते ही प्रवेशद्वारके ठीक सामनेके देवालयपर, जिसमें दधिमथि माँका चित्र लगा हुआ है, दृष्टि पड़ी। सीधा माँके सामने जाकर खड़ा हो गया। माँको उलाहने देते हुए प्रार्थना करने लगा—'माँ! यह कैसी परिस्थिति है, यह किस भूलका परिणाम है? मुझे क्षमा कर दो। इस परिस्थितिसे कैसे निपटा जाय, तुम्हीं कुछ सुझाव दो। यहाँ मेरा कोई नहीं है, जो इस विपरीत परिस्थितिको अनुकूल परिस्थितिमें परिवर्तित कर सके।'

फिर मैंने स्नान किया, तदुपरान्त अन्तःप्रेरणावश पुनः माँके समीप जाकर मकान बंद करके रोया, कहने लगा—माँ ! तुम्हारे सिवा अन्य किसीके सामने रोनेसे क्या लाभ ! माँ तो रोते हुए शिशुको उठा, अपने हृदयमें स्थित प्रेमरसरूप सागरको उड़ेलकर शिशुके दुःखको यथाभिलषित वस्तु प्रदान कर शान्त कर देती है। कैसी माँ हो ? मेरी आर्त प्रार्थना क्यों नहीं सुनती ? माँ ! तुम्हारे लिये तो सभी पुत्र एक-से हैं, चाहे सुपुत्र हो या कुपुत्र, तुम्हारी दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं है। माँ ! मेरे पास तो कहनेको कुछ शब्द नहीं हैं, तुम अन्तर्यामी हो, अन्तःकरणकी सभी बात जानती हो, तुम्हें क्या कहें, कुछ कहना शेष नहीं है । माँ ! तुम बोलती क्यों नहीं ? कोई बात नहीं, माँ ! मत बोलो, मैं तुमसे अब कुछ नहीं कहता।' मेरी आँखें अविरल अश्रुधारा बहा रही थीं।

मानसिक प्रेरणावश उसी समय माँके समक्ष धूप-दीप दान कर मैंने सायंकालीन गायत्री-जप किया, तत्पश्चात् देवीपाठका विचार किया । विचार आया—'मनकी चञ्चलता (अस्थिरता) क्या इतने समय स्थिरचित्त होकर पाठ करने देगी ? दूसरे ही क्षण दुर्गासप्तशतीके एकादश अध्यायका, जिसे 'नारायणी-स्तुति' नामसे भी कहा जाता है, पाठ करनेका निश्चय किया । इसमें ५५ श्लोक (मन्त्र) हैं।

'ॐ'ऋषिरुवाच-देव्या हते तत्र' से आरम्भ कर—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥

—तक पाठ पूरा किया । देवीकी इस प्रतिज्ञाका ध्यान कर माँको प्रणाम किया। यह पाठ बड़े शान्तचित्त एवं भावसे हुआ।

पाठके मध्यमें एक रोगी चिकित्सा-हेतु बुलाने आया । मैंने उसे पाठ पूरा होनेके पश्चात् (उसीके घरपर) आनेका संकेत दिया। पाठ करनेपर मन स्वस्थ था। संकल्प-विकल्प बहुत कुछ समाप्त हो गये थे। सम्भवतः माँने प्रार्थना स्वीकार कर ली हो, यह सोचता हुआ मैं तैयार होकर रोगी देखने जाने लगा । मैंने मकानका ताला लगाकर सीढ़ियोंसे नीचे पैर रखे ही थे कि दो व्यक्ति मेरे पास आये, जो उसी गाँवके थे—एक स्वर्णकार, दूसरा चौधरी (जाट)। स्वर्णकार सज्जन वे ही थे, जो मुझे पूर्ण रूपसे दोषी ठहरा रहे थे। उन्होंने ही यह बात कही थी कि इनके अतिरिक्त अन्य किसीके कामकी पुस्तक नहीं है, अतः इन्होंने ही पुस्तक रख ली होगी। माँकी विचित्र लीला है। मैंने उन आगन्तुक सज्जनोंसे कहा—'कैसे आना हुआ ?' उन्होंने कहा—'आपका काम हो गया।' मैंने समझा, सम्भवतः इन्होंने पुस्तकके दाम (मूल्य)की व्यवस्था कर कार्य सम्पन्न किया हो; किंतु उन्होंने कहा—'आप-द्वारा खोयी गयी वह पुस्तक जिस व्यक्तिकी थी, उसे दे दी गयी है।' मुझे विश्वास नहीं हुआ, किंतु तुरंत ध्यान आया कि माँके लिये क्या असम्भव है। यह बात सुनकर मनमें प्रसन्नता छा गयी । माँकी कृपासे हृदय द्रवित हो उठा । मुखसे शब्द नहीं निकल रहे थे। सोच रहा था कि माँकी ऐसी कृपाकी कृतज्ञता किन शब्दोंसे व्यक्त करूँ। मैंने तो बस, माँको बारंबार प्रणाम किया। भगवतीद्वारा प्रेरित उन दूतोंका यथोचित सम्मान करूँ, यह भाव आनेपर मैंने उन सज्जनोंसे कुछ आतिथ्य लेनेका आग्रह किया, परंतु उन्होंने तो जल पीनेसे भी इन्कार कर दिया। इतना अवश्य कहा—'जिस व्यक्तिके माध्यमसे यह कार्य हुआ है, वह गरीब है, उसे आप कमीज बनवा दें एवं कबूतरोंको दाना डलवा दें।' मैंने उसी समय जो भी पहनने योग्य नये वस्त्र मेरे पास थे, देकर उन्हें विदा किया। उन दोनों व्यक्तियोंके चले जानेपर फिर माँकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ, पुनः प्रणाम किया। सारी घटना सायं सवा छः बजे समाप्त हो चली थी ।

मुझे उन व्यक्तियोंने स्पष्ट तो नहीं बताया, पर जो कुछ भाव उन्होंने व्यक्त किये, उनके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि कपड़ेमें लिपटी यह पुस्तक औषधालयसे एक गरीब व्यक्तिने किसी मूल्यवान् वस्तुके धोखेमें चुरा ली थी। जब उसने देखा कि यह उसके विशेष कामकी नहीं है और इसीके लिये पुस्तकका मालिक मुझपर संदेह कर मारने-पीटनेपर उतारू है तो उसका हृदय व्याकुल हो उठा। चोरीके दण्डका डर उसे मेरे पास आकर सारी परिस्थिति बतानेसे रोक रहा था, पर,उधर मुझपर आयी आपत्ति उसे मौन भी नहीं रहने देती थी। अतः उसने चुपचाप वह पुस्तक ले जाकर पुस्तकके स्वामीको सौंप दी।

मेरी दृष्टिमें उस गरीब व्यक्तिके मनमें उठे ये भाव माँके द्वारा ही प्रेरित थे, अन्यथा इस विषयको वह सर्वथा दबा सकता था।

—माँका एक अबोध बालक

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

संकटमोचन श्रीकृष्णस्तोत्र

वसुदेव उवाच

श्रीमन्तमिन्द्रियातीतमक्षरं निर्गुणं विभुम् । ध्यानासाध्यं च सर्वेषां परमात्मानमीश्वरम् ॥
स्वेच्छामयं सर्वरूपं स्वेच्छारूपधरं परम् । निर्लिप्तं परमं ब्रह्म बीजरूपं सनातनम् ॥
स्थूलात् स्थूलतरं व्याप्तमतिसूक्ष्ममदर्शनम् । स्थितं सर्वशरीरेषु साक्षिरूपमदृश्यकम् ॥
शरीरवन्तं सगुणमशरीरं गुणोत्करम् । प्रकृतिं प्रकृतीशं च प्राकृतं प्रकृतेः परम् ॥
सर्वेशं सर्वरूपं च सर्वान्तकरमव्ययम् । सर्वाधारं निराधारं निर्व्यूहं स्तौमि किं विभो ॥
अनन्तः स्तवनेऽशक्तोऽशक्ता देवी सरस्वती । यं स्तोतुमसमर्थश्च पञ्चवक्त्रः षडाननः ॥
चतुर्मुखो वेदकर्ता यं स्तोतुमक्षमः सदा । गणेशो न समर्थश्च योगीन्द्राणां गुरोर्गुरुः ॥
ऋषयो देवताश्चैव मुनीन्द्रमनुमानवाः । स्वप्ने तेषामदृश्यं च त्वामेवं किं स्तुवन्ति ते ॥
श्रुतयः स्तवनेऽशक्ताः किं स्तुवन्ति विपश्चितः । विहायैवं शरीरं च बालो भवितुमर्हसि ॥
वसुदेवकृतं स्तोत्रं त्रिसंध्यं यः पठेन्नरः । भक्तिं दास्यमवाप्नोति श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ॥
विशिष्टपुत्रं लभते हरिदासं गुणान्वितम् । संकटं निस्तरेत् तूर्णं शत्रुभीत्या प्रमुच्यते ॥

(ब्रह्मवै० पुरा० श्रीकृष्णजन्मखण्ड ७ । ८०—९०)

वसुदेवजी बोले—'भगवन् ! आप श्रीमान् (सहज शोभासे सम्पन्न), इन्द्रियातीत, अविनाशी, निर्गुण, सर्वव्यापी, ध्यानसे भी किसीके वशमें न होनेवाले, सबके ईश्वर और परमात्मा हैं । स्वेच्छामय, सर्वस्वरूप, स्वच्छन्द रूपधारी, अत्यन्त निर्लिप्त, परब्रह्म तथा सनातन बीजरूप हैं । आप स्थूलसे भी अत्यन्त स्थूल, सर्वत्र व्याप्त, अतिशय सूक्ष्म, दृष्टिपथमें न आनेवाले, समस्त शरीरोंमें साक्षीरूपसे स्थित तथा अदृश्य हैं । साकार, निराकार, सगुण, गुणोंके समूह, प्रकृति, प्रकृतिके शासक तथा प्राकृत पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी प्रकृतिसे परे विद्यमान हैं । विभो ! आप सर्वेश्वर, सर्वरूप, सर्वान्तक, अविनाशी, सर्वाधार, निराधार और निर्व्यूह (तर्कके अविषय) हैं, मैं आपकी क्या स्तुति करूँ ? भगवान् अनन्त (सहस्रों जिह्वावाले शेषनाग) भी आपका स्तवन करनेमें असमर्थ हैं । सरस्वतीदेवीमें भी वह शक्ति नहीं कि आपकी स्तुति कर सकें । पञ्चमुख महादेव और छः मुखवाले स्कन्द भी जिनकी स्तुति नहीं कर सकते, वेदोंको प्रकट करनेवाले चतुर्मुख ब्रह्मा भी जिनके स्तवनमें सर्वदा अक्षम हैं तथा योगीन्द्रोंके गुरुके भी गुरु गणेश भी जिनकी स्तुतिमें असमर्थ हैं, उन आपका स्तवन ऋषि, देवता, मुनीन्द्र, मनु और मानव कैसे कर सकते हैं ? उनकी दृष्टिमें तो आप कभी आये ही नहीं । जब श्रुतियाँ आपकी स्तुति नहीं कर सकतीं तो विद्वान् लोग क्या कर सकते हैं ? मेरी आपसे इतनी ही प्रार्थना है कि आप ऐसे दिव्य शरीरको त्यागकर बालकका रूप धारण कर लें ।'

जो मनुष्य वसुदेवजीके द्वारा किये गये इस स्तोत्रका तीनों संध्याओंके समय पाठ करता है, वह श्रीकृष्ण-चरणारविन्दोंकी दास्य-भक्ति प्राप्त कर लेता है । उसे विशिष्ट एवं हरिभक्त पुत्रकी प्राप्ति होती है । वह सारे संकटोंसे शीघ्र पार हो जाता और शत्रुके भयसे छूट जाता है ।

शान्त पुरुषके लक्षण

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्। न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥
यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति। जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥
तुषारकरबिम्बाभं मनो यस्य निराकुलम्। मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥
स्थितोऽपि न स्थित इव न हृष्यति न कुप्यति। यः सुषुप्तसमः स्वस्थः स शान्त इति कथ्यते ॥
अमृतस्यन्दिसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति। दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥
योऽन्तः शीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति। व्यवहारी न संमूढः स शान्त इति कथ्यते ॥
अप्यापत्सु दुरन्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि। तुच्छोऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥
आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः। कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च। बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥

(योगवासिष्ठ मु० व्य० प्र०, अध्याय १३)

जो पुरुष प्रिय और अप्रियको सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। जो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियोंको अपने वशमें करके समस्त प्राणियोंके साथ समतापूर्ण व्यवहार करता है तथा न तो भविष्यकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका परित्याग करता है, वह 'शान्त' कहलाता है। जिसका मन मरण, उत्सव और युद्धके अवसरपर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डलके समान निर्मल आभासे युक्त रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। हर्ष और कोपका अवसर उपस्थित होनेपर भी जो पुरुष वहाँ अनुपस्थितके समान न तो हर्षको प्राप्त होता है और न क्रोध ही करता है, बल्कि उसका मन गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषके मनके समान निर्विकार रहता है, वह 'शान्त' पदसे व्यवहृत होता है। जिसकी अमृत-प्रवाहके सदृश सुखदायिनी तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि सभी प्राणियोंपर समानरूपसे पड़ती है, उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। जिसका अन्तःकरण शीतल हो गया है एवं जिसकी बुद्धि मोहाच्छन्न नहीं है तथा जो लौकिक विषयोंके साथ व्यवहार करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, उसे लोग 'शान्त' कहते हैं। कल्पान्तपर्यवसायिनी अन्तरहित विपत्तियोंमें भी—'मैं तुच्छ हूँ,' ऐसा समझकर जिसका मन खिन्न नहीं होता, उसे 'शान्त' कहते हैं। सम्यक् प्रकारसे व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी बुद्धि आकाशके सदृश निर्विकार रहती है, राग-द्वेषरूप कलङ्कसे लिप्त नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है। तपस्वियों, विद्वानों, याजकों, नरेशों, बलवानों और गुणियोंके समुदायमें शमयुक्त पुरुषकी ही विशेष शोभा होती है।